नवयुवकों से

नवयुवकों से

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-७

प्रकाशक
सन्मार्ग प्रकाशन
१६ यू० बी बैंग्लो रोड दिल्ली-७

प्रथम संस्करण १९७२
मूल्य आठ रुपए
अनुवादक : विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

क्रम

चरित्र ही राष्ट्र को महान् बनाता है*

आज, जिन छात्रो ने कठोर परिश्रम के फलस्वरूप अपने स्नातक-पत्र प्राप्त किये है, उनको बधाई देना मै अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता हू। मैं चाहता हू कि वे भविष्य मे भी अपने उन गुणो को अपनाये रहे जिनका प्रदर्शन उन्होने अपने विश्वविद्यालयीय जीवन मे किया है। मुझे आशा है कि वे ऐसा करेंगे।

यदि मैं आपको विश्वास दिलाऊ कि भावी जीवन मे आपको चमकते हुए पारितोषिक और सुविधाप्रद पद प्राप्त होगे, तो मै आपके प्रति ही नही, अपने प्रति भी अन्याय करूगा। हमारे आगे जो समय आ रहा है, वह बहुत कठिनाई का है। अन्य देशो मे जो आन्दोलन शताब्दियो की अवधि मे हुए, वे सभी हमारे देश मे न्यूनाधिक रूप से, एक साथ हो चुके है। यूरोप के सास्कृतिक पुनर्जागरण (रैनेसा), धर्म-सुधार-आन्दोलन (रेफॉर्मेशन), औद्योगिक क्रान्ति या राजनीतिक क्रान्ति जैसी एक नही—ये समस्त हमारे देश मे इन कुछ ही वर्षों मे अवतरित हो चुकी है। हमे राजनीतिक स्वाधीनता तो प्राप्त हो गयी है, परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि हमे पूर्ण स्वतत्रता भी मिल चुकी है। यदि इस प्रथम चरण को इस महान् देश की मुक्ति की प्रस्तावना बनाना है तो हमे अभी बहुत सारी चीजे करनी होगी। यदि हम चाहते है कि राजनीतिक क्रान्ति

*कर्नाटक विश्वविद्यालय मे दीक्षान्त-भाषण—२६ अक्तूबर, १९५३ ई०।

के पश्चात् सामाजिक और आर्थिक क्रांति भी हो, तो यह आवश्यक है कि हमारे विश्वविद्यालय वैज्ञानिको, शिल्पियो, इंजीनियरो और कृषिशास्त्रियो आदि के दल के दल प्रशिक्षित करके भेजे। अपने देश का कायापलट करने के लिए, अपने समाज के आर्थिक स्वरूप मे परिवर्तन लाने के लिए इन लोगो की अत्यन्त आवश्यकता है। कई अन्य देश, जो ससार मे बहुत उन्नतिशील देश माने जाते है, यद्यपि वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक क्षेत्र मे अद्भुत प्रगति कर चुके है, तथापि वे आन्तरिक कलह से छिन्न-भिन्न हो रहे है और अपनी जनता को शान्ति, अभय तथा सुरक्षा प्रदान करने मे असमर्थ है। इससे केवल यही प्रकट होता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा विकसित गुणो के अतिरिक्त भी अन्य गुण आवश्यक है।

अभी-अभी एक छात्र को विज्ञान में 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' (पी० एच० डी०) की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। इससे प्रकट है कि विज्ञान भी दर्शन-शास्त्र की एक शाखा माना जाता है। विश्वविद्यालयो का कार्य प्राविधिक दृष्टि से कुशल और व्यावसायिक रूप से सुयोग्य व्यक्तियो को भेजते रहना ही नही है, वरन् उनका तो कर्त्तव्य यह है कि वे अपने छात्रो मे दयालुता का गुण उत्पन्न करें। इसी गुण के कारण लोग परस्पर सच्ची लोकतान्त्रिक भावना से व्यवहार करने मे समर्थ हो सकते है। हमारे धर्म प्रारम्भ से ही पुकार-पुकार कर कह रहे है कि प्रत्येक मानव प्राणी दैवी शक्ति का एक स्फुलिंग है। उपनिषदो का कथन है—'तत् त्वम् असि' (वह तुम हो)। बौद्ध कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति मे दैवी शक्ति की चिनगारी है और वह 'बोधिसत्त्व' बन सकता है। ये उद्घोषणाएँ अपने-आप मे पर्याप्त नही हैं। जब तक ये सिद्धान्त सविधान के धारयान मात्र है और जन-जन के जीवन मे व्यवहृत नही होते, तब तक हम अपने निर्धारित आदर्शों से बहुत दूर है। लोगो के हृदयो और मनो मे परिवर्तन करना आवश्यक है। हमे केवल राजनीतिक अर्थ मे ही लोकतान्त्रिक बनने की चेष्टा नही करनी है, वरन् सामाजिक और आर्थिक अर्थ मे भी। दर्शन और धर्म शास्त्र सहित ललित साहित्यो के समुचित अध्ययन द्वारा लोगो मे यह लोकतान्त्रिक परिवर्तन, यह लोकतान्त्रिक शील और इस प्रकार का दृष्टिकोण लाना आवश्यक है। एक उत्कृष्ट

श्लोक है जिसका भावार्थ यह है कि इस ससार रूपी विष-वृक्ष मे दो फल अतुलनीय महत्त्व के हैं, वे है—सद्ग्रन्थो का आनन्द और सज्जनो का साहचर्य। यदि आप महान् साहित्य के फलो का रसास्वादन करना चाहते है, तो आपको चाहिए कि उनको पढे; परन्तु पढे ऐसे नही, जैसे आप क्रिकेट के वृत्तान्त पढते है, वरन् उनको एकाग्र चित्त होकर पढना चाहिए। हमारी यह पीढी इतनी द्रुत गति से यात्रा कर रही है कि उसके पास महान् ग्रन्थो को पढने का अवकाश नही है और इसीलिए वह अपने देश के प्रचीन साहित्यग्रथो से प्रभावित होने की आदत खो चुकी है। किन्तु, अपने सविधान मे निहित लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो के अनुरूप हमारे मानसिक स्वभाव और व्यावहारिक आदर्श तभी ढल सकते है, ये सिद्धान्त व्यक्ति के चरित्र और समाज की प्रकृति मे परिवर्तन करने मे तभी समर्थ हो सकते है, जब हम महान् साहित्यिक ग्रथो, दर्शन और धर्म का अध्ययन करे। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नही है। अतएव, यद्यपि अपने देश को महान् वैज्ञानिको, महान् प्रौद्योगिको और महान् इजीनियरो की आवश्यकता है, तथापि उनको ललित साहित्य का अध्येता बनाने मे हमे उपेक्षा नही दिखानी चाहिए। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का महत्त्व स्वीकार करते हुए, हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी ही सब कुछ नही है। हमे यह प्रसिद्ध कथन विस्मृत नही करना चाहिए कि दया-कारुण्य के विकास के विना कोरा पाण्डित्य हमे पैशाचिक बना देता है। अत कोई विश्वविद्यालय अपने को तब तक सच्चा विश्वविद्यालय नहीं समझ सकता, जब तक वह ऐसे युवको और युवतियो को प्रशिक्षित करके न भेजे, जो न केवल विद्वान् हो, वरन् जिनके हृदय पीडित मानवता के प्रति करुणा से पूर्ण हो। यह हुए विना, विश्वविद्यालयीय शिक्षा को अपूर्ण ही समझना चाहिये।

मैं अपने लगभग समस्त वयस्क जीवन मे—चालीस वर्षो से भी अधिक तक, शिक्षक रहा हू। मैं विद्यार्थियो के साथ रह चुका हू, और मुझे यह देखकर गहरा आघात लगता है कि कुछ विद्यार्थी अपने विश्वविद्यालय-जीवन के बहुमूल्य वर्षो को व्यर्थ गवा देते हैं। मैं यह नही कहता कि सभी विद्यार्थी ऐसा करते है। अध्यापको और विद्यार्थियो का

तो एक परिवार होता है, और परिवार मे श्रमिक-सघ की भावना से काम नही चलता। किसी विश्वविद्यालय मे इस प्रकार की बात हो, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता। विश्वविद्यालय का जीवन अध्यापको और विद्यार्थियो की सहकारिता पर आधारित होता है, मैं आशा करता हूं कि विद्यार्थी समाज-विरोधी कार्य करके अपने प्रति कुसेवा नही करेंगे।

चरित्र ही प्रारब्ध है। चरित्र मे ही किसी राष्ट्र के प्रारब्ध का निर्माण होता है। हीन चरित्र व्यक्तियो से कोई राष्ट्र महान् नही बनता। यदि हम अपने राष्ट्र को महान् बनाना चाहते है, तो हमे बडी सख्या मे चरित्र-वान युवको और युवतियो को प्रशिक्षित करना चाहिए। हमारे युवक और युवतिया ऐसी हो, जो (जैसा कि हमारे शास्त्रो ने बहुधा कहा है) अन्यो को अपनी जीवन्त प्रतिमूर्ति समझे। किन्तु, यदि हम चारित्रिक दृष्टि से हीन है, तो चाहे सार्वजनिक जीवन हो, चाहे विद्यार्थी जीवन, हम उच्च कोटि की सफलता नही प्राप्त कर सकते। जब हमारे पैरो के नीचे की धरती धसक रही हो, तब हम पर्वत पर नही चढ सकते। जब हमारी सरचना का मूलाधार ही डांवाडोल हो, तब हम अपने उच्चादर्शों तक पहुच भी कैसे सकते है? हम सबको विनम्र होना चाहिए। इस देश के निर्माण मे हमारी-आपकी सबकी रुचि है। हम जिस किसी भी सेवा मे नियोजित हो, हमे यह चिन्ता नही करनी चाहिए कि हम क्या वेतन पाते है। हमारे लिए तो केवल यही ज्ञातव्य है कि हम उस सेवा को कितनी अच्छी तरह कर सकते है। हमारे युवको और युवतियो को बस इसी सिद्धान्त से अनुप्राणित होना चाहिए। हमारा देश एक महान् देश है। सदियो तक हमारा इतिहास महान् रहा है। समस्त पौर्वात्य देशो मे हमारी सस्कृति प्रतिबिम्बित है। मोहनजोदाडो और हडप्पा की सभ्यता के समय से भारत ने ससार को जो कुछ सिखाया, आज हमे उस सबका प्रति-निधित्व करना है। घरेलू मामले हो, या अन्तर्राष्ट्रीय मामले, हमे आचरण के उच्चतम मानको का पालन करना चाहिए। जो युवक और युवतिया आज इस विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त कर रही है, उनको मेरा परामर्श है: भारत माता तुमसे आशा रखती है कि तुम्हारे जीवन स्वच्छ हो, श्रेष्ठ हो और निस्स्वार्थ कार्य के निमित्त समर्पित हो।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'*

दीक्षान्त भाषणकर्त्ता का यह विशेषाधिकार होता है कि वह उन लोगो को बधाई दे, जिन्होने कठोर परिश्रम और अनुशासित प्रयास के फलस्वरूप स्नातकीय उपाधियाँ और विशिष्टतासूचक पदक प्राप्त किए है। मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ है। मै बहुत चाहता हू कि मन और चरित्र की जिन शक्तियो से आपको विश्वविद्यालय के अपने अध्ययन मे सहायता मिली है, वे आपको विशालतर जीवन मे भी, जिसमे आप प्रवेश कर रहे है, आपका साथ देती रहे।

हम आपको यह आशा नही बँधा सकते कि भावी जीवन मे आपको चमकीले पारितोषिक या सुविधाप्रद पद प्राप्त ही होगे, किन्तु इतना हम कहेगे कि विनम्र कार्य और रचनात्मक सेवा के लिए आपको अवसरो की कभी कोई कमी न रहेगी। यह बडे दु.ख की बात है कि हमारे युवको मे वह उल्लास की भावना, वह शक्ति का प्रवाह, वह उत्साह-उमग नही पाई जाती, जो महान् मुक्ति-आन्दोलनो की एक विशेषता होती है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि किसी महान् उद्देश्य की प्रेरणा हममे नि.शेष हो चुकी है। हम लोगो मे से कई यह नही समझ पा रहे कि ससार मे हमारी स्थिति मे कितना मौलिक परिवर्तन हो गया है। सत्ता-हस्तान्तरण के समय हमारे कई आलोचक यह सोचते थे कि विभाजन के कुप्रभावो से हम नही उबरेगे, हमारा देश टूक-टूक हो

* दिल्ली विश्वविद्यालय मे दीक्षान्त भाषण—५ दिसम्बर, १९५३ ई०।

जाएगा, हमारा प्रशासन अव्यवस्थित हो जाएगा, अराजकता फैल जाएगी, जीवन और संपत्ति असुरक्षित हो जाएंगी। किन्तु, ये सभी आलोचक वास्तविक परिणामों को देखकर चकित रह गए हैं। अन्तरराष्ट्रीय जगत में हमारी स्थिति अभी छः या सात वर्ष की ही है, किन्तु अपनी सत्य-शीलता, स्वतन्त्रता और शान्तिप्रियता के कारण हमें उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस देश में पधारे हुए, एक सम्मान्य दर्शक के कथन की स्मृति आपको दिलाना चाहता हूं। उसने कहा था—'भारत किसी बाह्यशक्ति के दबाव या डर के सामने घुटने टेकने की अपेक्षा मर जाना या आत्महत्या करना अधिक पसन्द करेगा।' ऐसा हो अथवा न हो, इतना तो है ही कि हमने अन्य राष्ट्रों से सम्मान प्राप्त किया है। परन्तु, हमने जो कुछ किया है, वह अभी विशाल अवशिष्ट कार्य की तुलना में अत्यन्त अल्प है। राज-नीतिक स्वतन्त्रता ने एक ऐसे नवीन भारत के निर्माण का महान् अवसर तथा पवित्र उत्तरदायित्व हमको प्रदान किया है, जो अभावग्रस्तता और रोग से मुक्त होगा, जो सवर्ण और असवर्ण के अभिशाप से छूट चुका होगा, जहां महिलाएं पुरुषों के साथ समानाधिकार का उपभोग करेंगी, और जहां हम शेष संसार के साथ शान्तिपूर्वक रहेंगे। इस प्रकार के भारत की प्रेरणा आपके आगामी कार्यों में आपके पैर उखड़ने नहीं देगी।

हम मानव-इतिहास के एक महान् क्रान्तिकारी काल में रह रहे हैं। संसार के अन्य भागों में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन कई सदियों की अवधि में हुए, वे हमारे देश में कुछ थोड़े-से वर्षों में संकेन्द्रित हो गये हैं। हमें राजनीतिक और आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक—बहुपक्षीय चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। शिक्षा ही वह साधन है जिसके द्वारा युवकों को इन सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के निमित्त कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। जो राष्ट्र युग की नवीन प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक नहीं रहते, उनकी गणना पिछड़े राष्ट्रों में होने लगती है।

हमारे देश में जो औद्योगिक विकास हो रहा है, उसके कारण वैज्ञा-निकों, शिल्पियों और इंजीनियरों की बड़ी संख्या में मांग हो रही है। हमारे विश्वविद्यालयों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की कक्षाओं में प्रवेशा-र्थियों की जो बाढ़-सी आ गई है, वह स्वाभाविक है। इन व्यावहारिक

पाठ्यक्रमो मे प्रशिक्षित व्यक्ति कृषि और औद्योगिक उत्पादनो को बढाने मे सहायक होते है। उनको सरलता से जीविका प्राप्त होने की भी आशा रहती है। छात्रो को जीविकोपार्जन मे सहायता करना भी शिक्षा का एक प्रकार्य है ('अर्थकरी च विद्या')।

मैं नही मानता कि वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक अध्ययन नैतिक मूल्यों से रहित होते है। विज्ञान ज्ञान भी है और शक्ति भी। इसमे रुचि के साथ-साथ उपयोगिता भी है। यह ज्ञानवर्द्धक भी है और फलप्रद भी। यह सत्यान्वेपण के लिए अनुशासित निष्ठा की अपेक्षा रखता है। यह अपने उपासको मे सहनशीलता, उदाराशयता, पूर्वाग्रह-मुक्तता और नवीन विचारो के प्रति ग्रहणशीलता की प्रवृत्ति विकसित करता है। विज्ञान हमारे सम्मुख विश्व की अखूट समृद्धि, इसकी आकस्मिकता और इसकी अद्भुतता का रहस्योद्घाटन कर देता है।

तो भी, विज्ञान मनुष्य मे इन गुणो का विकास आनुषगिक रूप से करता है, तात्कालिक रूप से नही। मानव-प्रकृति के अवौद्धिक पक्ष से इसका सीधा सम्वन्ध नही होता। उत्पादन और उपभोग मे सलग्न आर्थिक मनुष्य, बौद्धिक मनुष्य और वैज्ञानिक मनुष्य—इनमे से कोई भी पूर्ण मनुष्य नही है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर जो अननुपातिक वल दिया जा रहा है, वह समस्त ससार के मननशील व्यक्तियो की चिन्ता का विपय बन गया है। आज सभ्यता के विरुद्ध जघन्य अपराध असभ्य और अशिक्षित व्यक्ति नही कर रहे, वरन् उनको करने वाले हैं उच्च शिक्षा-प्राप्त और तथाकथित सभ्य व्यक्ति। यहाँ वह उक्ति स्मरण हो आती है कि अत्यन्त प्रमार्जित (polished) इस्पात और मण्डूर (मुर्चा) मे जितनी दूरी है, उससे अधिक दूरी सभ्यतम राज्य और वर्बरता मे नही है। वैज्ञानिको ने अव ऐसे साधन खोज निकाले है जिनसे इस ग्रह पर से मानव प्राणियो का नाम-निशान तक मिटाया जा सकता है। विश्व के नेताओ के सम्मुख आज जितनी समस्याए विचारणीय है, उनमे से कोई भी इतने गभीरतर परिणाम वाली नही है जितनी यह समस्या कि मानव जाति को निर्मूल होने से कैसे वचाया जाए। एक ओर तो हम आणविक युग की प्राणहर परिस्थितियो से जूझ रहे हैं, दूसरी ओर, विज्ञान की उप-

लब्धियो ने हमारे मन मे नैराश्य की भावना भर दी है और हम एक अन्ध-यन्त्र मे फसे, गृहहीन निर्वासितो की तरह अपने को असहाय अनुभव कर रहे हैं। हम अतलगर्त के कगार पर खडे है या संभवत उसकी ओर सरकते भी जा रहे हैं। इग्लैण्ड के प्रधान मंत्री ने हाल ही मे अपने एक भाषण मे यह विचार प्रकट किया था—"हम और समस्त राष्ट्र मानव-इतिहास की इस घड़ी मे महान् संकट और अपरिमित लाभ के सिंहद्वार पर खडे हैं। हमारा विश्वास है कि ईश्वर की दया से हम सही वस्तु का चुनाव करेंगे, और उस दशा मे, इन साधनो का सर्वनाशकारी होना मानव मन को अकथनीय सुरक्षा प्रदान कर सकेगा।" सही वस्तु का चुनाव करने के लिए हृदय और बुद्धि के संस्कार की आवश्यकता होती है। विनाश और संकट से बचाव वैज्ञानिक विचारो तथा भौतिक शक्तियो पर निर्भर नही करता, यह निर्भर करता है नर-नारियो की समझदारी पर, उनके विचारो पर और समग्र समाज के नैतिक निर्णयों पर। यदि हम सही मार्ग अपनाते हैं, तो विज्ञान की उपलब्धिया हमे इतनी भौतिक सम्पदा और इतना प्रचुर अवकाश उपलब्ध कराने मे समर्थ हो सकेंगी, जितना मानव-इतिहास मे इससे पूर्व कभी संभव नहीं हो पाया। यह सब तभी सभव हो पाएगा जब हम उन आन्तरिक आग्रहो, आवेगो मे क्रान्ति कर डाले जिनका हम पर नियत्रण है।

प्रत्येक सतोषप्रद शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य व्यक्ति का सन्तुलित विकास होना चाहिए और उसे ज्ञान (knowledge) एव प्रज्ञा (wisdom) दोनो के विकास का आग्रह होना चाहिए—('ज्ञान विज्ञानसहितम्')। वह केवल बुद्धि को प्रशिक्षित न करे, वरन् हृदय को भी उदात्त भावो से भरे। साहित्य, दर्शन और धर्म के अध्ययन से प्रज्ञा का विकास अधिक सरलता से होता है। वे विश्व के उच्चतर सिद्धान्तो का भाष्य उपस्थित करते हैं। यदि हमारे पास सामान्य जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण का अभाव हो, तो हमे मतिभ्रम हो जाएगा और हम लोभ, भीरुता, चिन्ता और नैराश्य के शिकार हो जाएंगे। मानव जाति के लिए भौतिक गन्दी बस्तियो की अपेक्षा मानसिक गन्दी बस्तियाँ (slums) अधिक भयावह हैं।

आज हमारे ससार मे स्वतत्र चिन्तन को प्रोत्साहित नही किया

जाता। जब हम सिनेमा देखते होते हैं तब दृश्य और क्रिया-परिवर्तन से सगति रखने के लिए हम बहुत शीघ्रता से सोचते है। सिनेमा अपने प्रेक्षको को यह जो क्षिप्रता प्रदान करता है और उनसे भी इसकी अपेक्षा रखता है, इसका मानसिक विकास पर एक विशिष्ट प्रभाव पडता है। यदि हम आधुनिक जीवन के दौर्बल्यजनक प्रभावो और स्नायविक तनाव से मुक्त होना चाहते हैं, यदि हम सिनेमा और रेडियो, सनसनी फैलाने वाले समाचार-पत्रो और स्वयभू नेताओ के निरन्तर होने वाले आक्रमणो से अपनी रक्षा करना चाहते हैं, तो हमे मनुष्यो के मन मे सुरक्षा-पक्ति बनानी होगी, उनमे चिरस्थायी रुचियो का बीजारोपण करना होगा। हमको उच्च कोटि के ग्रन्थो को, जिनमे मानव जाति के जीवन और प्रारब्ध से सम्बन्धित वास्तविक महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किया गया होता है, पढने का अभ्यास डालना चाहिए। हमको इन महान् विषयो पर स्वय भी विचार करना चाहिए। किन्तु, आत्मचिन्तन से यह अभिप्राय नही है कि शून्य मे, निराधार, सर्वथा एकाकी चिन्तन किया जाए। हमे दूसरों की, चाहे वे जीवित हो या मृत, सहायता की आवश्यकता है। सभी युगो के महान् व्यक्तियो कवियो, 'ससार के अमान्य विधायको,' दार्शनिको, सृजनशील विचारको और कलाकारो की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। जहाँ विज्ञानों मे केवल समसामयिक व्यक्तियो से ही हमको सहायता मिल सकती है, वहाँ ललित साहित्यो मे हमे हर जाति और हर काल के बहुत ही महान् व्यक्तियो की सहायता प्राप्त होती है। जीवन के गहन से गहन स्तर पर, परब्रह्म परमेश्वर की प्रकृति के स्वरूप—विस्तार को, विश्व की अर्थ-व्यवस्था और मनुष्य की शक्ति तथा शक्तिहीनता के अन्तर्रहस्य को इतिहास प्रमाणित करता है। इतिहास की घटनाएँ मनुष्यो की आत्माओ मे घटित होने वाली घटनाओ का प्रतिबिम्ब होती हैं।

यदि यह देश विविध परिवर्तनो और घटना-क्रमो मे से गुज़र कर भी अपना अस्तित्व बचाये रख सका है, तो इसके कारण हैं—हमारे यहाँ के लोगो के कतिपय मानसिक स्वभाव और मान्यताएँ, जिनको जाति या धर्म की विभिन्नता के होते हुए भी सबने अपनाये रखा है और जिनको वे कभी तिलाजलि नही देगे। सत्य यह है कि मनुष्य के मन और विश्व

की चेतन आत्मा से घनिष्ट सम्बन्ध है। हम आत्म-नियन्त्रण का अभ्यास करके और दया-कारुण्य का प्रयोग करके इसका अनुभव कर सकते हैं। इस देश में, कालान्तर में जिन धर्मों का प्रचलन हुआ, उनकी शिक्षाएँ इन सिद्धान्तों के ढाँचे में ही अपना सामजस्य बैठाती रही। हमारा इतिहास आज का नहीं है। यह उस विशाल सरिता के सदृश है जिसके स्रोत के विषय में सब मौन हैं। इस चिर पुरातन इतिहास के निर्माण में कितने ही युगों, कितनी ही प्रजातियों और कितने ही धर्मों ने अपना योग-दान किया है। यह सब कुछ हमारे रक्त-प्रवाह में घुल-मिल गया है। भारतीय सस्कृति में जितना ही परिवर्तन होता है, उतनी ही यह अपरिवर्तित—जैसी की तैसी, बनी रहती है। भारतीय आत्मा ने कठिन समय में हमें सँभाला है। यदि हम अपने ऊपर विश्वास करते रहे, तो भविष्य में भी यह हमें सँभाले रहेगी। किसी राष्ट्र को चरित्र तथा जीवन-शक्ति अमूर्त्त निष्ठाओं से प्राप्त होती है। दैनिक जीवनचर्या के दबाव में वे महत्त्वहीन और अप्रासगिक जान पड़ सकती हैं। आन्तरिक कलह और फूट से जर्जर होते हुए भी हम बाह्य सकटों के प्रहार सह कर इसीलिए बचे रह सके, क्योंकि हम इस प्रकार की निष्ठाओं से निरन्तर चिपके रहे। यदि हमारे युवक-जन अधिक सुखमय जीवन बिताना चाहते हैं, तो उन्हें अपनी प्रजाति के अनुभवों और आदर्शों को अधिक अच्छी तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए, हमारी संस्कृति में जो महान् विचार प्रतिष्ठापित है, उनमें उनको मानसिक और हार्दिक रूप से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।

हमारे विश्वविद्यालयों में अपनी सस्कृति के प्रति जो अनवधानता दिखाई जा रही है, वह छात्रों में बढ़ती हुई उच्छृखलता के लिए कुछ कम उत्तरदायी नहीं है। पिछले कुछ सप्ताहों में, देश के कुछ भागों में, कतिपय छात्रों के अराजक कृत्यों ने हमारा सिर नीचा किया है और हमें उनसे दुःख पहुँचा है। मुझे उनसे बात करने का अवसर मिला है। मैंने उन छात्रों से कह दिया कि अधिकारियों की अवहेलना के इन कार्यों से वे राष्ट्रीय कुसेवा करते हैं और देश के भविष्य को सकटापन्न बनाते हैं, वे अतीत के द्रोही और भविष्य के शत्रु हैं। आज मैं यह बताना चाहता हूँ कि विश्वविद्यालयों के वातावरण में सुधार करने के लिए हमें क्या करना

चाहिए। जीवन की समस्याओ को धैर्य, सहिष्णुता, आत्म-नियंत्रण और विवेक से सुलझाने के लिए, जैसी कि हमारी नूतन परिस्थितियो की माँग है, विद्यार्थियो को प्रशिक्षित नही किया जा रहा। उच्च उद्देश्यो के प्रति इस अनुशासित उत्साह के अभाव मे, छात्र स्वयं के लिए और सपूर्ण समाज के लिए सकट बन जाते है। महान् साहित्य-ग्रन्थो के अध्ययन से, जीवन की समस्याओ का सामना करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। मुझे आशा है कि विश्वविद्यालय शिक्षा के इस पक्ष पर अधिकाधिक ध्यान देगे।

विश्वविद्यालय आवश्यक रूप से शिक्षको और छात्रो का निगम होता है। दोनो के मध्य पवित्र सम्बन्ध रहते आये है। हम अपने युवको को किस प्रकार की शिक्षा सुलभ कर रहे है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस प्रकार के स्त्री-पुरुषो को शिक्षक नियुक्त करते हैं। आलीशान भवन और साज-सज्जा महान् शिक्षक का स्थान नही ले सकते। देश की योग्यतम प्रतिभाओ को, एक अच्छे अनुपात मे, शिक्षक-व्यवसाय मे खीचने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए। यदि यह देश विज्ञान और विद्वत्ता के क्षेत्र मे मानव मन की प्रगति-यात्रा मे भाग लेना चाहता है, तो विश्वविद्यालयो को चाहिए कि वे देश के कुछ मूर्द्धन्य विद्वानो को अध्यापक के पद पर नियुक्त करें। यदि आप चाहते हो कि विश्वविद्यालय का अध्यापक अध्ययन-अध्यापन और अनुसधान मे ही अपने को पूरी तरह जुटा दें, तो उसको इतनी सहायता मिलनी चाहिए कि वह सुख-सुविधा से अपना जीवन-यापन कर सके। क्योकि विश्वविद्यालयो मे नियुक्त होने वाले युवक अध्यापको को निम्न वेतन दिया जाता है, इसलिए बौद्धिक मूल्यो के लिए उनके मन मे कोई प्रतिष्ठा नही रह जाती और वे पाठ्य-पुस्तके लिखने तथा परीक्षक बनने मे रुचि लेने लगते हैं। मैं आशा करता हूँ कि आर्थिक लाभ की दृष्टि से विश्वविद्यालयीय सेवा अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के तुल्य ही आकर्षक बन जाएगी, क्योकि यही एक उपाय है जिससे देश के कुछ योग्यतम व्यक्ति विश्वविद्यालयो की सेवा मे आ सकेंगे और टिक सकेंगे। विद्यार्थियो पर उनके अध्यापको के आचरण का बडा प्रभाव पडता है, अत हम शिक्षक-व्यवसाय के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से बच नही सकते। इस विषय मे जनता को उदारता और समझ-

दारी से विचार करना चाहिए।

एक बात और भी है, हमारे महाविद्यालयो (कॉलेजो) मे छात्रो की संख्या बहुत बढा ली गई है, जबकि छात्रो की इस वृद्धिगत संख्या के अध्यापनार्थ सुयोग्य अध्यापको की नियुक्ति नही की जा रही। ऐसी स्थिति मे, विद्यार्थियो को पर्याप्त विद्वत्तापूर्ण अध्यापन और नैतिक मार्ग-दर्शन उपलब्ध होना असम्भव हो गया है। कुछ शिक्षण-सस्थाए तो व्यापारिक विधि से सचालित हो रही है, उनमे कारखानो की तरह पाली-पद्धति चालू की गई है। यदि परिणाम निराशाजनक होते है, तो इसमे दोप तो हमारा है। हमारे छात्रो मे कोई त्रुटि नही है, त्रुटि है तो हमारी शिक्षा-पद्धति मे।

विश्वविद्यालयो के वातावरण मे भी बहुत-सी कमिया है। सच्ची शिक्षा के लिए आवश्यक है कि हम अपने ऐसे मित्रो से वार्तालाप और वाद-विवाद कर सकें, विचारो और सम्मतियो का आदान-प्रदान कर सके, जिनमे सहज रूप मे, सहानुभूतिपूर्वक तथा भयरहित होकर कुछ कहा-सुना जा सके। हमारे विश्वविद्यालयो मे क्या इन बातो के लिए पर्याप्त सुअवसर है? फिर, खेल-कूद और अन्य सामाजिक कार्यो के लिए भी पर्याप्त सुविधा उपलब्ध नही है। कोई कारण नही कि जो विद्यार्थी शारीरिक रूप से योग्य हो, उन्हे अधिकाधिक सख्या मे राष्ट्रीय छात्र-सैनिक दल (नेशनल कैडिट कोर) मे भरती होने के लिए प्रोत्साहित न किया जाए। छात्र-सैनिक दल के सदस्यो मे अनुशासित रहने, मिल-जुलकर काम करने और श्रम की प्रतिष्ठा करने की आदत पड जाती है।

मुझे खेदपूर्वक कहना पडता है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या—देश के युवको की शिक्षा पर यथोचित ध्यान नही दे रही। यदि शिक्षा को सबसे बढकर प्राथमिकता नही दी जाती, तो लोकतन्त्र के हमारे सम्पूर्ण प्रयोग को क्षति पहुंचेगी। यदि आर्थिक सहायता के अभाव मे विश्वविद्यालयीय शिक्षा के स्तर को गिरने दिया गया, तो देश का भावी नेतृत्व सकट मे पड जाएगा।

नरिस ही प्रारब्ध है। यह सूत्र—वाक्य व्यक्तियो और राष्ट्रो, दोनो पर लागू होता है। हम गलत सामग्री से सही वस्तु का निर्माण नही

कर सकते। आपकी बौद्धिक योग्यता और शैल्पिक कौशल से भी अधिक, समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है आपकी किसी महत्कार्य मे निष्ठा। हमारे देश मे प्रचुर प्राकृतिक साधन है, बुद्धिमान नर-नारियो की भी कमी नही है, यदि इसके साथ-साथ हम अपने देश के पुनर्निर्माण के पवित्र कार्य मे आत्मत्याग की भावना से, सगर्व, एक-जुट होकर पिल पडे, तो हमे अपना लक्ष्य प्राप्त करने से कोई शक्ति नही रोक सकती। एक राष्ट्र के रूप मे हमारा भावी प्रारब्ध हमारी भौतिक सम्पदा की अपेक्षा हमारी आध्यात्मिक शक्ति पर अधिक निर्भर करता है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।' निर्बल व्यक्ति पूर्णत्व के लक्ष्य तक नही पहुँच सकते। 'निर्बल' से हमारा तात्पर्य शारीरिक रूप से निर्बल व्यक्ति से नही, वरन् आत्मिक रूप से निर्बल, 'आत्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन' से है। किसी भी राष्ट्र की सबसे बडी सम्पत्ति है—उसकी जनता का उत्साह, उसका तेज। यदि हम किसी जनता का उत्साह भग कर देते है, तो हम उसके भविष्य को सकटापन्न करते है। यदि हम अपनी आत्मा को बलवती बनावें, तो हमारा भविष्य समुज्ज्वल होगा।

'प्रसार्य धर्मध्वजम्,
प्रपूर्य धर्मशखम्,
प्रताडय धर्मदुन्दुभिम्,
धर्म कुरु, धर्म कुरु, धर्म कुरु।

आत्मिक शक्ति को जगाओ*

पजाब विश्वविद्यालय के छठे वार्षिक दीक्षान्त-समारोह के महत्त्वपूर्ण अवसर पर यहा आकर और आपसे कुछ शब्द कहने का सुयोग पाकर मुझे प्रसन्नता है। मैं इस वर्ष के स्नातकों को अपनी बधाई देता हू जिन्होंने कठोर परिश्रम और अनुशासित प्रयास के फलस्वरूप अपने उपाधि-पत्र प्राप्त किए हैं; कुछ ने तो विशेष योग्यताए भी प्राप्त की है।

आपके विश्वविद्यालय को अनेक अप्रत्याशित कठिनाइयो का सामना करना पडा। देश के विभाजन के पश्चात् आपको एक तरह से एकदम नये विश्वविद्यालय की ही स्थापना करनी पडी, आपने अपने शिक्षण-विभागो को विभिन्न केन्द्रो मे स्थानान्तरित किया और नयी शिक्षा सस्थाओ का श्रीगणेश किया। स्वभावत आपके महाविद्यालयो को छात्रो की भीड-भाड, भवनो की दुरावस्था तथा अध्यापको की साधन-न्यूनता और अपर्याप्तता का शिकार होना पडा। इन कठिनाइयो के कारण शिक्षण आदि के उच्च स्तर पर कुप्रभाव पड़ता है। फिर भी, बहुत कठिन परिस्थितियों मे रहते हुए आपने जितना कार्य कर दिखाया है, उस पर आपको गर्व और सन्तोष होना चाहिए।

भवन और उनकी साज-सज्जा ही सब कुछ नही है। अच्छे शिक्षक, जो छात्रो के कल्याण मे रुचि लेते है, जिनमे अपने विषय के लिए उत्साह होता है, तथा जो अपने छात्रो को भी अपने उत्साह से अनुप्राणित करने

*पजाब विश्वविद्यालय मे दीक्षान्त-भाषण—१६ दिसम्बर, १९५३ ई०।

रहते हैं, वास्तव मे विश्वविद्यालय के वही मुख्य ढाचे होते है। वाणिज्य-बुद्धि वाली हमारी यह पीढी केवल उन्ही लोगो का आदर करती है जो खूब रुपया कमाते है, इसलिए सर्वोत्तम योग्यता वाले व्यक्ति प्रशासकीय सेवाओ, व्यापार और बौद्धिक व्यवसायो मे खिच जाते है। हमे यह समझ लेना चाहिए कि हम अपने बच्चो को जिस प्रकार की शिक्षा दे रहे है, उसकी अच्छाई-बुराई बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि किस प्रकार के नर-नारी हमे अध्यापक के रूप मे उपलब्ध हो पाते है। अध्यापको को लोग कम सम्मान देते है, यह इस बात का मुखर साक्ष्य है कि हमारा समाज किस व्याधि से ग्रस्त है। हमे अयोग्य और महत्वाकाक्षाहीन व्यक्तियो को नही, वरन् ठीक प्रकार के व्यक्तियो को शिक्षा-व्यवसाय मे लाने की चेष्टा करनी चाहिए। अध्यापको के लिए आदर की भावना बलात् नही थोपी जा सकती, उसे तो अध्यापको को स्वय अर्जित करना चाहिए।

अगामी कुछ वर्ष हमारी अग्नि-परीक्षा के है, बहुत वर्षो से इतने कठोर और इतने श्रममय समय से हमारा पाला नही पडा है। जिस राजनीतिक स्वाधीनता को हमने मँहगे मोल और बहुत बलिदान देकर प्राप्त किया है, वह मात्र एक अवसर है, अपने आप मे कोई सिद्धि नही है। यदि हम देश मे दृढ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र को पनपाना चाहते है, तो हमे मिलजुल कर कठोर परिश्रम करने की आवश्यकता है। इस आदर्श के कारण हम पर एक पवित्र उत्तरदायित्व आ जाता है। संविधान मे लोकतन्त्र के सिद्धान्तो का समावेश कर लेने मात्र से लोग लोकतान्त्रिक नही बन जाते। केवल उपदेश दे-देकर उन्हे भला नही बनाया जा सकता। न्याय, समता, बन्धुता और स्वतन्त्रता के जिन महान् आदर्शो को हमने अपने सविधान मे अकित किया है उनको सामाजिक ताने-बाने मे बुन दिया जाना चाहिए। हमे अपने दैनिक जीवन की बहुविध स्थितियो मे उनका प्रयोग करना चाहिए। दुर्भाग्य से, राजनीतिक मुक्ति के समय हमारी जो मनोदशा थी, उसमे क्रान्तिकारी उत्स का अभाव था। बलिदान की भावना पर सुखोपभोग की भावना हावी हो गई है। हम जितना देते है, उससे अधिक मागते प्रतीत होते है। जनता मे

नैतिक पतन, अतृप्ति और असंतोष के लक्षण खूब दिखाई दे रहे हैं, और ये सब उसमें गंभीर शिथिलता उत्पन्न कर रहे हैं। अपने समाज को निर्बल बनाने वाले इन आत्मिक रोग पर हमे नियंत्रण पाना होगा। यदि हम अपने मन को नही बदल सकते, तो हम किसी चीज को नहीं बदल सकते।

किसी राष्ट्र का निर्माण उसकी शिक्षण-सस्थाओ मे होता है। हमे अपने युवको को उनमे प्रशिक्षित करना है। हमे उनको उन परम्पराओ से अवगत कराना है जिन पर भविष्य का गठन होगा। प्रजाति और धर्म, भाषा और भूगोल की बहुत-सी जटिलताओ और विभिन्नताओ के होते हुए भी जिन शक्तियो ने हमारी जनता को एक राष्ट्र बनाए रखा और आगे भी उसको ऐक्य सूत्र मे बांधकर रख सकती है, उनका स्वरूप निर्धारित हो रहा है। ये शक्तिया भौतिक क्षेत्र से सम्बन्धित नही है; हमारी यह एकता भौगोलिक एकता नही है, इसका सम्बन्ध तो विचार-जगत् से है। जब-जब केन्द्रीय एकता का ह्रास हुआ है और आन्तरिक कलह उस पर हावी हुआ है, तब-तब हमारे देश को उसका कुफल भुगतना पडा है। हमारी यह शिकायत रहती थी कि जिन लोगो ने सदियो तक हम पर शासन किया, वे 'फूट डालो और शासन करो' की नीति पर चलते थे। जो हो, यह तो सत्य ही है कि हमारी पराधीनता का कारण हमारी आपस की फूट थी। इसलिए हमको भाषा, धर्म और प्रान्त के नाम पर विभेद उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियो से अपने को बचाना है। विश्वविद्यालयो मे भी हमको मिल जुलकर रहने और सामाजिक हित के लिए कार्य करने की भावना का विकास करना चाहिए। आज की हमारी पीढी को इसकी महती आवश्यकता है और विश्वविद्यालयो को इसके लिए उसे प्रेरणा देनी चाहिए।

हमारी पचवर्षीय योजना की विभिन्न शाखाओ के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है, उनको सुलभ करने का उत्तरदायित्व हमारे विश्वविद्यालयो पर है। यह स्वाभाविक ही है कि आज युवक वैज्ञानिक, औद्योगिक और व्यावसायिक पाठ्यक्रमो मे प्रशिक्षित होना चाहते है। हमारे नित्य-प्रति के जीवन, भविष्य की हमारी आशाओ और आदर्शों मे

जो ग्रामूलचूल परिवर्तन हो गए है, उनमे विज्ञान का वहुत वडा हाथ है। विज्ञान हमारे जीवन मे प्रमुख भाग लेता जा रहा है। हमारे इतिहास मे, इतनी कम ग्रवधि मे, ऐसे उग्र परिवर्तन इससे पूर्व कभी नही हुए। परन्तु वैज्ञानिक ग्रध्ययन पर ही सारा का सारा या एकागी बल देने से गभीर हानि हो जाती है। मनुष्य के मन पर शक्ति ग्रौर सम्पदा का नशा सवार होने लगता है। हम इनकी प्राप्ति के लिए ग्रनवरत प्रयत्न करने लगते है ग्रौर जैसे भी हो सफलता प्राप्त करना चाहते है। अधिक से ग्रधिक धन बटोरने ग्रौर ऊचे से ऊचा सामाजिक पद प्राप्त करने की ललक इतनी वलवती हो उठती हे कि इस उद्देश्य के सामने हमारे ग्रन्य उद्देश्य फीके पड जाते हैं, गौण हो जाते है। ग्रागे बढने की इच्छा प्रशसनीय महत्वा-काक्षा है, बशर्ते कि इससे ग्रन्य अधिक प्रशसनीय महत्वाकाक्षाग्रो की उपेक्षा न होती हो। राष्ट्र के रूप मे हमारा भावी कल्याण ग्रौर प्रारब्ध हमारी भौतिक सम्पदा की ग्रपेक्षा हमारी आत्मिक शक्ति पर ग्रधिक निर्भर करेगा।

वैज्ञानिक प्रगति भयावह ग्रौर सापेक्ष होती है। यदि हम केवल विद्वान् है, सत्यत सस्कृत नही, तो हम समाज के लिए सकट वन सकते है। 'साक्षरो विपरीतत्वे राक्षसो भवति ध्रुवम्' (विद्वान् व्यक्ति यदि विपरीत ग्राचरण करने लगे, तो वह राक्षस हो जाता है)। इस कथन से मिलता-जुलता ग्ररस्तू का भी एक कथन है—

"पूर्णत्व प्राप्त मनुष्य सभी प्राणियो मे सर्वोत्तम होता है, किन्तु नियम ग्रौर न्याय से वियुक्त होकर वह सवसे वुरा प्राणी वन जाता है, क्योकि सशस्त्र ग्रन्याय ग्रधिक भयकर होता है, ग्रौर मनुष्य जन्म से ही ऐसे शस्त्रो से सज्जित होता है जिनका सही प्रयोग बुद्धिमत्ता ग्रौर विवेक से ही हो सकता है, परन्तु मनुष्य चाहे तो उनको वुरे-से-वुरे कार्यो के निमित्त प्रयोग कर सकता है। यदि उसमे विवेक ग्रौर न्याय-बुद्धि न हो, तो समस्त प्राणियो मे उसके समान ग्रधर्मी ग्रौर ग्रसभ्य ग्रन्य कोई नही होता।"

ग्रन्तर्राष्ट्रीय जगत मे जैसी सकटपूर्ण स्थिति ग्राज उपस्थित हुई है, वैसी गम्भीर स्थिति सम्पूर्ण इतिहास मे कभी नही हुई थी। ग्राज एक

ओर तो हम आधुनिक विज्ञान के आयुधो से तथा आधुनिक मनोविज्ञान के शिल्प (टेक्नीक) से सुसज्जित है, दूसरी ओर लोभ, स्वार्थपरता और प्रभुता-प्रेम से अपने को बचा नही पाये है। हमने प्रकृति पर तो अपनी शक्ति बढा ली है, पर स्वय अपने ऊपर हमारी शक्ति कुठित हो रही है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पास स्वार्थपरता की कोई चिकित्सा नही है, और न उनके पास विश्व के गूढ रहस्य की कुञ्जी है। केवल विश्वास, आशा और सुरक्षा के वातावरण मे ही हमारी प्रगति सुरक्षित रह सकती है। सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने इस माह की आठवी तारीख को सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण सभा मे भाषण करते हुए कहा था—"हमे ऐसे उपाय खोजने चाहिए जिनसे वह दिन निकट आ सके जब पूर्व और पश्चिम की जनता तथा सरकारो के मन से अणुबम का भय लुप्त होने लगे।" उन्होने इस साहसिक कार्य मे सहयोग करने के लिए ससार की जनता से अपील की। सयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से प्रतिज्ञा करते हुए उन्होने कहा—"अमेरिका उस उपाय को खोजने मे अपना सपूर्ण हृदय और मन लगा देगा जिससे मनुष्य की चमत्कारिक अन्वेषणात्मक प्रतिभा उसकी मृत्यु के लिए समर्पित न होकर उसके जीवन के लिए होगी।" यह अपील और प्रतिज्ञा करने के पूर्व राष्ट्रपति ने सयुक्त राष्ट्र सघ के उपासना गृह मे कुछ मिनट व्यतीत किये थे। नये सिरे से आरम्भ करने के पहले हमे नए ढग से विचार भी करना चाहिए हमारे समाज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्याधियो के लिए एक ही औषधि है, और वह है आत्मा के आधारभूत मूल्यो का सम्मान। हमे यह जानना चाहिए कि मनुष्य मे कुछ है जो सदाचार के लिए भूखा है, प्यासा है। यदि अन्तरराष्ट्रीय जगत मे भारी गडबडी दिखाई दे रही है और हम चिन्ता की स्थिति मे रह रहे है, तो इसका कारण यह है कि हमारा प्रशिक्षण एकागी हुआ है। यह मान लेना गलत है कि मानव जाति के कल्याण का एकमात्र मार्ग है अधिकाधिक वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्रौद्योगिक सुधार।

संसार के उच्चकोटि के ग्रन्थो के अध्ययन से ही हमारी आत्मा का विकास होता है। लोकतन्त्र का आधार सब धर्मों का यह केन्द्रीय सिद्धान्त

है कि मानव-मन और विश्व की चेतन आत्मा मे घनिष्ट सम्बन्ध है। लोकतन्त्र के इस सिद्धान्त को हमारी प्रभावशाली आस्था का रूप ले लेना चाहिए। अपनी शिक्षण-सस्थाओ मे, हम अपने युवको और युवतियो को लोकतन्त्र की भावना मे दीक्षित कर सकते है। हमे देश की सम्पदा मे वृद्धि करनी चाहिए, विषमता को कम करना चाहिए और सामान्य जन के जीवन-स्तर को ऊपर उठाना चाहिए। भय और अज्ञानता, स्वार्थ-परता और अन्धविश्वास के कुहरे को भेद कर उस नवीन भारत की उज्ज्वल प्रतिमा को उभरने दीजिए, जिसमे हम सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहेगे।

शिक्षा का केवल ज्ञान और कौशल की दृष्टि से ही महत्त्व नही है, उसका महत्त्व इसलिए भी है कि वह हमे दूसरो के साथ मिल-जुलकर रहने मे सहायता देती है। हमको ऐसे जीवन-यापन की शिक्षा मिलनी चाहिए जिसमे सहकारिता और परस्पर सहायता की भावना हो। बौद्धिक सिद्धियो की अपेक्षा नैतिक गुणो का अधिक महत्त्व है। हमारे देश मे महान् प्राकृतिक साधन है, बुद्धिमान नर-नारियो का भी अभाव नही है, यदि हम अपने देश के पुनर्निर्माण के पवित्र कार्य मे प्रसन्नता, गर्व और कर्त्तव्य भावना के साथ हिलमिल कर नियोजित होना भी सीख जाये, तो ससार की कोई शक्ति हमे अपने लक्ष्य तक पहुचने से नही रोक सकती। भगवान बुद्ध कहते है—"कोई अन्य तुझे बाध्य नही करता, तू स्वय से ही दुख पाता है।" यदि हमारी संस्थाये हमारे युवको मे चरित्र और लोक-तान्त्रिक अनुशासन भर दे, तो हमारे देश का भविष्य सुरक्षित है। धर्म उसी को कहते है जो समाज को संगठित रखता है।

'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित'।

शिक्षण-वृत्ति व्यापार नही, मिशन है*

गत साठ वर्षों मे, जिन लोगो ने इस कॉलेज (मेरठ कॉलेज) को उसके वर्तमान स्वरूप तक पहुचाने के लिए कार्य किया है, उनका स्मरण इस अवसर पर करना उचित ही है। यह कॉलेज सतत विकासमान रहा है और आज ४,००० से अधिक विद्यार्थी इसमे शिक्षा पा रहे है, अध्यापन और अनुसन्धान से सम्बन्धित कई विभाग यहाँ है। यह स्वाभाविक है कि इसको विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत करने की आपकी महत्त्वाकाक्षा हो। यह सच है कि 'यूनीवर्सिटी जाँच कमीशन' की अपनी रिपोर्ट मे हमने कहा था कि यदि इस कॉलेज के पास पर्याप्त कोष हो और यह समुचित शिक्षण का उत्तरदायित्व वहन कर सके, तो इसको विश्वविद्यालय के रूप मे विकसित होने दिया जा सकता है। किन्तु ये दो शर्तें—आर्थिक सामर्थ्य और शिक्षण सम्बन्धी पर्याप्त व्यवस्था—बहुत आवश्यक हैं। केवल नाम बदल देने से कोई कॉलेज विश्वविद्यालय नही बन जाएगा। जिन विश्वविद्यालयो का आर्थिक आधार सुदृढ नही है, वे शिक्षण की दृष्टि से असतोष प्रद नीति-रीति बरत रहे है। घटिया प्रकार के, और सो भी सख्या मे अपर्याप्त अध्यापको के कारण, न तो छात्रो की पढाई-लिखाई ठीक हो पाती है और न उनको ऐसे अध्यापको से नैतिक मार्ग-दर्शन ही मिल पाता है। इस समय ४,००० से भी अधिक छात्रो के लिए आपके यहाँ १३५

---

*मेरठ कॉलेज की हीरक जयन्ती के अवसर पर उद्घाटन-भाषण—२० दिसम्बर, १९५२।

अध्यापक है, जिनको पर्याप्त नही कहा जा सकता। आपको मात्रा की अपेक्षा गुण पर अधिक बल देना चाहिए। आपको इतना समर्थ बनना चाहिए कि आप अपने यहाँ ऐसे अध्यापको को नियुक्त कर सके, जो अपने ज्ञान और पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध हो, तथा जो अध्यापन करने के साथ साथ अपने ज्ञान मे वृद्धि करते रहने के लिए भी उत्सुक हो। अध्यापन-वृत्ति को व्यापार के निम्न स्तर पर नही उतारना चाहिए। यह जीविका है, व्यवसाय है, 'मिशन' (धर्मार्थ कार्य) है। अध्यापको का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने शिष्यो को नवीन लोकतत्र के अच्छे नागरिक बनावे। उनको चाहिए कि वे अपने छात्रो मे नूतन अनुभव के लिए अभिरुचि तथा ज्ञानप्राप्ति के साहसिक कार्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे।

विश्वविद्यालय का दृष्टिकोण व्यापक, विश्वजनीन होना चाहिए। विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमो का अध्ययन करने से, सामूहिक साहचर्य के वातावरण मे मिलने-जुलने से, अच्छे और महान् व्यक्तित्वो के सत्सग से छात्रो के जीवन और चरित्र मे उदात्तता का समावेश होता है। यदि हम विज्ञान और दर्शन के आधारभूत सिद्धातो की ऊची बातो मे रुचि नही रखते, तो हम स्वय को सत्यत' शिक्षित नही कह सकते। हमको चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने मानव-जाति की प्रगति मे जो वेग ला दिया है, उसको न खोते हुए, हम अपनी सास्कृतिक विरासत को भी सुरक्षित रखे।

यदि मनुष्य स्वय अपने अह से समझौता नही कर सकता, यदि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण सश्लिष्ट नही है, तो वह क्रूर, विध्वसात्मक, यहाँ तक कि विक्षिप्त तक हो जाएगा। वह अपने पथ से भटक जाएगा। अपने मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर हम जीवन के अत्यावश्यक मूल्यो पर से ही आस्था खोते जा रहे है और आत्मा की इयत्ता से बाहर रहने तथा पुरातन गुप्त रहस्यो के सीमान्त को वन्द करने की चेष्टा कर रहे है। हम विस्थापित है, गृहहीन है और भय तथा अभिमान के कारण अर्द्ध-विक्षिप्त हो रहे है। जीवन का जादू फीका पडता जा रहा है और जीवन के वास्तविक सार और रस को प्राप्त करना हमारे लिए अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है।

आज हमे मृत्यु और रोग के विरुद्ध उतना संघर्ष नही करना है जितना मनुष्य द्वारा मनुष्य के दमन के विरुद्ध, जितना उस अन्याय तथा निरकुशता के विरुद्ध, जिन्होने जीवन को इतना दुःखान्त और स्वतंत्रता को इतना असुरक्षित बना दिया है। हमारे जीवन-दर्शन मे ऐसे आधार-भूत सिद्धात हैं जिन पर एक नये विश्व-समाज का निर्माण हो सकता है।

जब यह कहा जाता है कि हमारा राज्य धर्मनिरपेक्ष है, तब इसका यह अर्थ नही होता कि हम अपनी परम्पराओ से उदासीन है अथवा हमारे मन मे धर्म के प्रति अश्रद्धा है। मैं आशा करता हूँ कि इस कालेज मे, यह कालेज रहे या विश्वविद्यालय, आत्मा के इन आधारभूत मूल्यो को सुरक्षित रखा जाएगा।

बुराई को भलाई से जीतो*

जिन छात्रो ने अपने स्नातक-पत्र और विशेष योग्यता-सूचक पदक प्राप्त किए है, उनको मै अपनी बधाइया और शुभकामनाये देता हूँ। मुझे प्रबल आशा है कि उनकी मानसिक साधना और अनुशासनपूर्ण जीवन का उनका स्वभाव, जिनके प्रतीक ये उपाधिपत्र और पदक है, भावी जीवन मे सदैव उनके साथ रहेगे।

आप सौभाग्यशाली हैं कि स्वतत्र भारत मे रह रहे है, स्वतत्र भारत को अपने पूर्ण विकास के लिए, ऐसे प्रत्येक स्वस्थ नागरिक की आवश्यकता है जो व्यक्तिगत लाभ या उपयुक्त पद का विचार किए बिना देश-सेवा कर सकता हो। मै जानता हूँ कि यह कहना सरल है कि 'कार्य तो अपना पुरस्कार स्वय है,' किन्तु कार्यकर्त्ताओ को भी जीवित रहना है, और यदि हम चाहते है कि उनका कार्य सतोषजनक हो, तो उनके जीवन को सुख-सुविधापूर्ण बनाना चाहिए। हमारी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो को सभी प्राप्य प्रतिभाशील व्यक्तियो को यथाशीघ्र रोजगार-धन्धे से लगाने का उपाय सोचना चाहिए। यदि हम अपने शिक्षित युवको तक को रोजगार नही दे पाते, तो वे स्नायविक दौर्बल्य के शिकार हो जाते है, और वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के प्रति उनमे असतोष भर जाता है। आजकल पूर्ण रोजगार और सामाजिक सुरक्षा को वास्तविक लोकतत्र की सच्ची कसौटी समझा जाता है। हम इस दृष्टिकोण से अपरिचित नही

*सागर विश्वविद्यालय मे दीक्षान्त-भाषण—११ फरवरी, १९५४।

हैं। कलिंग के एक शिला-लेख मे अशोक लिखता है—

"सभी मनुष्य मेरे बच्चे हैं। जिस प्रकार मैं अपने बच्चो के लिए चाहता हूं कि उन्हे इहलोक और परलोक दोनो मे सुख-सुविधा मिले, उसी प्रकार मैं सभी लोगो के लिए चाहता हूं।"

इस विश्वविद्यालय मे ऐसी परिस्थितियां है जिनमे सच्चे विश्व-विद्यालयीय जीवन का विकास सम्भव हो सकता है। आपके विश्वविद्यालय मे भीडभाड अधिक नही है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आप अनुसन्धान-कार्य पर भी ध्यान दे रहे है। जो अध्यापक अपने ज्ञान-क्षितिज को विस्तृत करने मे रुचि नही रखता, वह न अपने विद्यार्थियो मे प्रेरणा भर सकता है, न उनका सम्मान प्राप्त कर सकता है। छात्रो को ऐसी शिक्षा देना जिससे वे आत्म-सस्कार कर सकें, उनको नई-नई जिज्ञासाओ के लिए प्रेरित करना—इस प्रकार की योग्यता किसी-किसी अध्यापक मे ही होती है। किसी विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा तथा उसका कार्य ऐसे अध्यापको की उपस्थिति पर ही निर्भर करता है।

भारत सरकार ऐसे उपायो और साधनो पर विचार कर रही है जिन मे विश्वविद्यालयो की स्थिति को सुधारा जा सके। सरकार आपको छात्रावासो के निर्माण मे, खेल-कूद के लिए मैदान प्राप्त करने मे, और सबसे बढकर, अध्यापको की सामाजिक स्थिति तथा उनका वेतन-स्तर ऊँचा करने मे आपकी सहायता करना चाहती है। किन्तु, कोई भी अध्यापक जो अपने विषय को प्यार नही करता, जो छात्रों के बौद्धिक एव नैतिक विकास की चिन्ता नही करता, ध्यान देने के योग्य नही है। वही अध्यापक कुचक्र रचते है और दलबन्दी करते है जो विद्याध्ययन मे तो रुचि रखते नही, परन्तु विश्वविद्यालय-प्रशासन मे शक्ति और पद हथियाने की महत्वाकाक्षा रखते हैं। दलबन्दी हमारे सार्वजनिक जीवन का अभिशाप बन गई है। मै आशा करता हूँ कि यह विश्वविद्यालय इससे मुक्त होगा। विश्वविद्यालयों मे और महाविद्यालयो (कालिजो) के लिए अध्यापको का चुनाव करते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता है, परन्तु एक बार उनको नियुक्त कर लेने के पश्चात् उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

पिछली बार, 'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' के अपने सहकर्मियो के साथ जब मैं इस विश्वविद्यालय मे आया था, तब डॉ० हरिसिंह गौड इसके उपकुलपति थे। यह उन्ही की प्रेरणा तथा दानशीलता का परिणाम है कि यह विश्वविद्यालय अस्तित्व मे आ सका। इन दिनो, जब हम रुपये के पीछे पागल हो गए है, उनके इस उदाहरण का मूल्य सहज ही आका जा सकता है कि धन का उपयोग निजी लाभ के लिए न करके, उसका सदुपयोग जन-हित मे करना चाहिए। डॉ० गौड विवेक-बुद्धि के अधिकारो मे विश्वास रखते थे। वे बहुत चाहते थे कि हम वैज्ञानिक ढग से सोचने-विचारने लगे, जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण विवेकपूर्ण हो जाय। धर्म के नाम पर हमारे देश मे जितने अन्धविश्वास और जितनी सुधार-विरोधी बाते प्रचलित है, उनको देख-सुन कर उनको बडी पीडा होती थी। उनका विचार था कि सामाजिक पूर्वाग्रह और धार्मिक अन्धविश्वास ही, जिनको जनता ने बिना सोचे-समझे आँख मूदकर श्रद्धा के साथ अपना लिया है, हमारी राजनीतिक तथा आर्थिक गिरावट के लिए मुख्यतया उत्तरदायी है। हमारे प्राचीन लेखको तक ने धर्म के दुरुपयोग का विरोध किया था। निम्नाकित श्लोक पर ध्यान दीजिए—

> "वृक्षान् छित्वा, पशून् हत्वा
> कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
> यद्य एव गम्यते स्वर्गम्,
> नरक केन गम्यते ॥"

यदि कोई व्यक्ति वृक्ष काटने से, पशुओ को मारने से और रुधिर-धारा बहाने से स्वर्ग जा सकता है, तो फिर नरक मे जाने की कौन-सी विधि है।

उपर्युक्त श्लोक उस व्यक्ति का निन्दात्मक उद्गार है जिसकी अन्तश्चेतना धर्मानुमोदित प्रतीत होने वाले कतिपय कृत्यो को अग्राह्य कर चुकी थी। भारतवर्ष कभी भी बाहर से नही जीता गया, वह भीतर से हराया गया। अपरीक्षित जीवन ही हमारे दुःखो का कारण बना।

डॉ० गौड ऐसी शिक्षा मे विश्वास करते थे जो मन के वैज्ञानिक चिन्तन, सामाजिक सुधार और आध्यात्मिक जीवन-दर्शन को प्रसारित

करने का साधन बन सके। यदि इस विश्वविद्यालय मे प्रशिक्षित व्यक्ति स्वस्थ दृष्टिकोण और लोकतान्त्रिक आचरण अपना सकें, तो इससे उनकी आत्मा को सुख मिलेगा।

डा० गौड का विचार था कि पुनर्नवीकृत जीवन की प्रेरणा आध्यात्मिक ही होनी चाहिए। बौद्ध धर्म के प्रति, जिस पर उन्होने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक भी लिखी थी, उनके मन मे जो सम्मान था उससे यह बात प्रकट होती है। हमारे युग की संकटपूर्ण स्थिति का कारण यह है कि हमने प्रकृति के संसार पर तो विस्तृत नये अधिकार प्राप्त कर लिए हैं, परन्तु स्वय अपने ऊपर हमारा कोई वश नही है। हमारे सम्मुख समस्या यह है: मनुष्य की बौद्धिक शक्ति के साथ-साथ उसके नैतिक चरित्र का विकास क्यो नही हो पाया है? वह निष्ठुर घृणाओ और सतत् भयों से इतना पीडित क्यो है? इस युग के पागलपन का कुछ कारण तो यह है कि हम आध्यात्मिक जीवन से दूर हट गए हैं। हम आज खण्डित अणु के कारण उतने दुःखी नही है जितने खण्डित मन के कारण। विज्ञान की उपलब्धियो का नशा हम पर इतना सवार हुआ है कि हम मनुष्य की सर्वशक्तिमत्ता मे विश्वास करते प्रतीत होते हैं।

'ईश्वरोऽहं अहम् भोगी सिद्धोहऽह बलवान् सुखी।'

हममे आज विनय का आदर्शों के प्रति सम्मान का, मन की उदात्तता का और हृदय की उदारता का अभाव है। अधिकार की लालसा ही कई रूप धारण करती है। हम अपने विचारो को ऊँचे-ऊँचे आदर्शों के नाम दे देते हैं और सोचते हैं कि इस या उस जीवन-पद्धति को स्वीकार करने मे ही ससार का त्राण हो सकता है। यदि हम विवेक-बुद्धि से सोचें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हमे आदर्श और क्रिया की अतियो से बचना चाहिए और अतिरेक से संयम की ओर लौटना चाहिए। बुद्ध ने हमे मध्यम मार्ग प्रदर्शित किया था जो आत्म-श्लाघा (Self-assertion) और आत्मनिग्रह (Self-denial) की आत्यन्तिकता से बचने की चेष्टा करता है। युवकों मे जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण लाने के लिए हमे उनके मन को, उनकी रुचियो और रीतियो को परिष्कृत करना चाहिए हमको उन्हें सभी महान् धर्मों के इस सिद्धान्त को अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहिए

कि 'बुराई के वशीभूत मत होओ, बुराई को भलाई से जीतो।'

जब कि हम सरकारो से आशा करते है कि वे अशिक्षा, बेकारी आदि की समस्याओ से निपटे, तब हम विश्वविद्यालयो से भी आशा रखते है कि वे घृणा, द्वेप, निष्क्रियता, पारस्परिक अविश्वास और प्रभुत्व-प्रेम जैसी दूर तक प्रभाव डालने वाली बुराइयो से सघर्ष करेंगे। ये बुराइयाँ हमारी राष्ट्रीय शक्ति का रस चूस रही है। हमारे कुछ नेता ऐसे है जो बहुधा इन कुप्रवृत्तियो का निवारण नही करते, उलटे इनको और भडकाते है। यही कारण है कि हम विश्वविद्यालयो को वाहरी राजनीतिक दलो के हस्तक्षेप से बचाना चाहते है।

हमको अपने युवको को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए ताकि वे अपने व्यक्तिगत और सामाजिक, सर्वाङ्गीण जीवन को सुन्दर से सुन्दर ढग से बिता सके। उनको बुद्धिमान और भला बनाना हमारा कर्त्तव्य है। उनको सुशीलता और समादर के उन अलिखित नियमो का स्वतः पालन करना चाहिए, जो किसी विधि संहिता द्वारा लागू न होते हुए भी, अच्छे व्यक्तियो द्वारा सदा से मान्य होते आए है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि इस विश्वविद्यालय मे सन्तुलित शिक्षा की वृद्धि करने और संकीर्ण विशेषज्ञता की त्रुटियो को दूर करने के लिए सब छात्रो को विज्ञान और ललित साहित्य का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है। महान् उत्कृष्ट साहित्य-ग्रन्थो के अध्ययन से ही हम अपनी रुचियो को परिष्कृत कर सकते है और अपने आचरण को सभ्य वना सकते है। हम सबको इस देश को सच्चा लोकतन्त्र बनाने का प्रयास करना चाहिए। हमारा देश एक विशाल परिवार के सदृश होना चाहिए जिसमे प्रत्येक सदस्य अपना व्यक्तित्व रखता है, परन्तु सबके हृदय एक सम पर स्पन्दित होते है। ऋग्वेद के अन्त मे यह प्रार्थना आती है जिसमे हमको उद्देश्य, हृदय और बुद्धि की एकता विकसित करने का निर्देश दिया गया है—

"समानो व आकूति,
समाना हृदयानि व।

समान अस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति ॥"[१]

यही भावना हम सबमें परिव्याप्त होनी चाहिए। कोई राष्ट्र दूसरों द्वारा विपत्ति का शिकार तो हो सकता है, परन्तु उसका पतन अपने ही हाथों में होता है। बाहर के लोग चाहें तो हमें आघात पहुँचा सकते हैं, किन्तु वे हमारा सिर लज्जावनत नहीं कर सकते। जब मनुष्य अपने प्रति सच्चा नहीं रहता, तभी वह लाञ्छना, अप्रतिष्ठा का भागी बनता है। कोई व्यक्ति यदि केवल अपना आत्म-विश्वास बनाए रख सके, जो समस्त वास्तविक महानता का साधन है, तो कोई ऐसा भौतिक कष्ट नहीं, जिस को वह हंसते-हँसते न सह सके।

आपका विश्वविद्यालय नया ही है और अभी आपको स्वस्थ परंपराओं का निर्माण करना है। ईश्वर करे, आप बौद्धिक पूर्णत्व और सक्रिय सहानुभूति—'प्रज्ञा' और 'करुणा'—के अपने गुणों के द्वारा इस कार्य में अपना यत्किंचित् योगदान कर सकें।

---

[१] ऋग्वेद, १०.१९१.४।

कृषकों को भी ज्ञान-ज्योति दिखाइए*

आरम्भ मे मैं उन लोगो को अपनी शुभकामनाएँ और वधाइया देना चाहता हूं जिनको आज उपाधिया, प्रमाण-पत्र तथा पुरस्कार मिले हैं। उनका कठोर श्रम और अनुशासित प्रयत्न अन्ततः सफल हुआ है।

एक बहुत प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने जिसका नाम लेने से कोई लाभ नही, यह कहा था कि 'यह सर्व कृषि है संस्कृति नही।'[1] परन्तु, मै यह कहने का साहस करता हू कि कृपि और सस्कृति मे एक आवश्यक सम्बन्ध है। हम सभी अरस्तू के इस बहुधा उद्धृत कथन से परिचित है कि 'हम ठीक से जीवित रह सके, इसके लिए पहले हमे जीवित रहना है।' इसके पहले कि हम एक सभ्यता का, एक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करे, जिनसे सास्कृतिक रचना सम्भव हो सके, हमे निरन्तर खाद्य प्राप्त होते रहने के विपय मे निश्चिन्त हो जाना चाहिए। जव तक लोग आखेट से पेट भरने की स्थिति मे रहते हे और लूट-खसोट की भयावह सपत्ति पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करते है, तब तक वे एक व्यवस्थित जीवन का विकास नही कर सकते। उनकी शक्तिया आखेट की आपत्तियो और अनिश्चित अवसरो का सामना करते-करते ही समाप्त हो जाएँगी।

जव खाद्य वटोरनेवाले घुमक्कड लोग खाद्य उत्पन्न करनेवाले कृपक

---

*भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् (इडियन कौंसिल आफ ऐग्रीकल्चरल रिसर्च) मे दीक्षान्त-भाषण—१२ फरवरी १९५४।

1 'It was all agriculture and not culture'

बन जाते है, तब संस्कृति का आधार तैयार हो जाता है। जब लोग एक स्थान पर बस जाते है, कृषि आरम्भ कर देते हैं और अनिश्चित भविष्य के लिए कुछ जमा करके रखने लगते हैं, तब उनको कलाओं तथा सभ्यता की परपराओं का विकास करने के लिए अवकाश मिलता है और उसके लिए अभिरुचि उत्पन्न होती है। वे झोपड़िया बनाते हैं; मन्दिरो और विद्यालयो का निर्माण करते है, पशुओ को पालतू बनाते हैं और पशु-प्रजनन की ओर ध्यान देते हैं, तथा इस प्रकार वे पहले की अपेक्षा अपने मानसिक और नैतिक उत्तराधिकार को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रसारित करने लगते है।

क्योकि संस्कृति की जड़ें कृषि मे है, अत महान् सभ्यताओ का विकास विशाल नदियो के आसपास हुआ। नदियो ने अपने आसपास की भूमि को उर्वर बना दिया और आवागमन को सरल कर दिया। ये सभ्यताए यागत्सी, गगा, नील, टाइग्रिस और यूफ्रेटीज (Euphrates) नदियो के इर्द गिर्द केन्द्रित रही।

अनुकूल परिस्थितियो के विलुप्त होने पर सभ्यता भी नष्ट हो जा सकती है। जलवायु-सम्बन्धी बडे परिवर्तन, भूमि की उर्वरता की समाप्ति, भूकम्प और जलप्लावन किसी भी सभ्यता के जीवन पर संकट ला सकते है। कदाचित् ही कोई प्राचीन संस्कृति हो जिसमे जलप्लावन की कहानी न हो। यह लोगो की स्मृति मे अटकी रह गयी है। परन्तु जीने की अन्त-र्जात प्रवृत्ति के कारण बुद्धिशील मनुष्य इन आशकाओ और अवरोधो पर विजय पाने के उपाय और साधन खोज निकालता है। जब एक डडे को हल का रूप दिया गया, तब यह एक साधारण सा आविष्कार था, किन्तु उसका महत्त्व अधिक था। ऋग्वेद में कृषि या पृथ्वी के फलो की देवी के रूप मे सीता की स्तुति की गयी है। रामायण मे हम पढते हैं कि जनक ने स्वय हल की मूठ पकडकर खेत जोता था और तभी फार का स्पर्श होते ही खेत की हलाई मे से सीता आविर्भूत हुई थी। वर्षा पर ही पूर्णतया निर्भर न रहने और बाढ के द्वारा होनेवाले विनाश से बचने के लिए बाधों का निर्माण हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य के द्वारा बनवाये हुए बांध १५० ई० तक काम देते रहे थे। प्राचीन नहरो के अवशेष तो देश के सभी भागों मे पाये

जाते है। अभी कुछ समय पहले तक हम ससार के कई प्रगतिशील राष्ट्रो से पीछे नही थे। कुछ परिस्थितियो के कारण, जिन पर इस समय विचार करने की आवश्यकता नही, हम पिछड गये। हमारा वैज्ञानिक विकास अवरुद्ध हो गया और हमारा समाज भी जड हो गया। हम अभी तक पुरानी रीति से खेती करते है, परिणाम यह हो रहा है कि हमारी अधिकाश जनसख्या के कृषि-कार्य मे लगे होने पर भी हमे समय-समय पर अकालो और खाद्य-सकटो का सामना करना पडता है।

कुछ वर्ष पहले, 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' के सदस्य के रूप मे मैं जब कुछ विश्वविद्यालयो मे गया, तब मुझे यह कुछ विचित्र-सा लगा कि हमारे कॉलेजो मे जो कृषि-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है, उसका हमारे देश के वास्तविक कृषको पर अधिक प्रभाव नही पडता। हमारे किसान अनजान हो सकते हैं, परन्तु उनमे बुद्धि का अभाव हो, ऐसी बात नही। ग्रेट ब्रिटेन की 'रॉयल ऐग्रीकल्चरल सोसाइटी' के डॉ० वोएल्कर ने जिन्होने सन् १८९० मे भारत का भ्रमण किया था, लिखा है : "निश्चय ही, भ्रमण के दौरान, अपने विश्राम-स्थलो पर मैंने कृषि का जो रूप देखा उससे अधिक पूर्ण रूप मैंने कभी नही देखा था। इस कृषि मे क्या नही था, सावधानी, कठोर परिश्रम, लगन और साधन की उर्वरता—सबकुछ तो इस कृषि मे दिखायी दिया मुझे।" मुझे इसमे रञ्चमात्र सन्देह नही है कि यदि हम अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानो के परिणामो को किसानो के लिए सुलभ बना दे, तो वे उनका उपयोग अपनी कृषि-प्रक्रियाओ मे करेंगे। इन परिणामो को प्रदर्शन-पट्टो, फिल्मो, रेडियो, प्रमुख भाषाओ मे प्रकाशित विज्ञप्तियो तथा माइक्रोफिल्म-सेवाओ और अन्य उपायो के द्वारा किसानो तक पहुचाना चाहिए।

कृषि हमारी एक प्रधान राष्ट्रीय समस्या है। हमारी पचवर्षीय योजना इसके महत्त्व को समझती है। हमने अपना खाद्योत्पादन बढाने के लिए कई परियोजनाएँ चालू कर रखी है और उत्पादन बढाने मे हमे सफलता मिली भी है। फिर भी, हमारा खेती करने का ढग बाबा आदम के जमाने का है और हमारे खेत भी अब अनार्थिक हो चुके है। भूमि-सुधार देश के सभी भागो मे नही हो पाये है, जो हुए भी है उनमे कृषको

की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान कम रखा गया है, उनमे कल्पना का अभाव है। जहा कही किसान अपनी प्रविधि मे सुधार करने के लिए इच्छुक है, वहा ऋणग्रस्तता और साधनो का अभाव उसका मार्ग रोके खडे है। यद्यपि इन समस्याओं मे से कुछ को सुलझाना तो प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो के बूते का है, तथापि महानुभावो ! आप लोग भी जिन्होंने आज उपाधिया, प्रमाण-पत्र तथा पुरस्कार प्राप्त किये हैं, हमारे कृषकों की, जो हमारी जनसख्या मे ७० प्रतिशत है, जानकारी बढाने मे बहुत-कुछ कर सकते हैं। आप स्वय अनुसन्धान करने के साथ-साथ, 'उन्नतिशील कृषि-सम्बन्धी प्रविधि का ज्ञान कृषको मे विस्तारित करना अपना कर्त्तव्य समझे। मैं आशा करता हू कि आगामी वर्षों में आप हमारी कृषि-पद्धति को आधुनिक बनाने मे सफल हो जाएंगे। मेरी शुभकामनाएं आपके साथ है।

साहित्य अकादमी का कर्त्तव्य*

खेद है कि हमारे अध्यक्ष महोदय (श्री जवाहरलाल नेहरू) आज उपस्थित न हो सके। नेहरू जी मूलत एक साहित्यिक व्यक्ति है, किन्तु हमारे समय की परिस्थितियो के कारण वे राजनीति मे भटक गए हैं। आज उनकी अनुपस्थिति मे मुझसे साहित्य अकादमी या साहित्य की राष्ट्रीय अकादमी का उद्घाटन करने को कहा गया है। जैसाकि मौलाना साहिब[1] ने अभी बताया है कि हमारे पास एक 'संगीत-नाटक अकादमी' है, हम दृश्य कलाओ के लिए भी एक अकादमी स्थापित करने की आशा करते है, और आज हम साहित्य की एक अकादमी का श्रीगणेश करने जा रहे हैं।

'साहित्य अकादमी' दो शब्दो के योग से बना है जिसमे एक सस्कृत का शब्द है, दूसरा यूनानी भाषा का। इससे यह सकेत मिलता है कि हमारा अध्यवसाय व्यापकता की महत्वाकाक्षा लेकर चला है। 'साहित्य' साहित्यिक रचना है और 'अकादमी' है विद्वान् लोगो का समाज। यह अकादमी साहित्यिक व्यक्तियो की है जो हमारे देश की विभिन्न भाषाओ मे साहित्य-निर्माण का कार्य कर रहे हैं। मौलाना साहिब ने मापको (स्टैन्डर्डस) के महत्त्वपर ठीक ही जोर दिया है। प्रत्येक सभ्य देश मे

---

*'साहित्य अकादमी', नयी दिल्ली मे उद्घाटन-भाषण—१२ मार्च, १९५४।

१ मौलाना अबुल कलाम आज़ाद।

अकादमी के अधिसदस्य (फेलो) या सदस्य—किसी भी रूप मे सम्बन्धित होना प्रतिष्ठा की बात मानी जाती है। अकादमी कृती साहित्यकारो के महत्त्व को स्वीकार करने, प्रतिभाशाली लेखको को प्रोत्साहित करने, जन-रुचि को सस्कृत बनाने और मापको को उच्च करने का एक साधन बन जाती है। हमारे देश की इस 'साहित्य अकादमी' को भी देश की विभिन्न भाषाओं मे हो रहे महत्त्वपूर्ण साहित्य-सृजन को अपनी दृष्टि मे रखना चाहिए।

मौलाना साहिब, मैं आपके इस विचार से सहमत हू कि आज हम जिस बौद्धिक पुनर्जागरण (रेनेसा) से गुजर रहे है, वह बहुत-कुछ हमारे समाज पर पाश्चात्य सस्कृति के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। यह प्रभाव हमारे पास तक अग्रेजी भाषा के माध्यम से आया है। आपने टैगोर, गाधी, अरविन्द घोष और नेहरू की रचनाओ का जो उल्लेख किया है, उससे अकादमी द्वारा अन्य भाषाओं के साथ-साथ अग्रेजी को भी अपने संरक्षण मे लेने का औचित्य प्रमाणित हो जाता है।

सरकार इस मामले में पहले कदम उठाकर पहल करना चाहती है और उचित आर्थिक अनुदान देकर अकादमी के कार्य को प्रोत्साहन देना चाहती है। सृजनात्मक साहित्य उत्पन्न करना सरकार का उत्तरदायित्व नहीं है। यहा हमे नेपोलियन के इस कथन का स्मरण हो आता है—"मैं सुनता हू कि फ्रान्स मे कोई कवि नही है, गृह मन्त्री महोदय इस सम्बन्ध मे क्या कर रहे है?" कोई भी सरकार 'आर्डर' देकर कवियो का निर्माण नही कर सकती, वह कवियो की सहायता ही कर सकती है। यदि हम चाहते हो कि देश मे व्यवस्थित साहित्य का नहीं, सृजनात्मक साहित्य का निर्माण हो, तो अकादमी को अपने कार्यों मे पूर्णतः स्वाधीन रहना चाहिए।

जबकि हम कल्याणकारी राज्य की स्थापना का लक्ष्य लेकर चल रहे है और राज्य से आशा करते है कि वह हमारी सारी आवश्यकताए पूरी करे, तब हमे अपने सामाजिक स्वास्थ्य और शक्ति के हित मे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को इतनी स्वतन्त्रता रहे कि वह अपने मापको के अनुसार, अपनी अन्तरात्मा के आदेशानुसार अपना जीवन-यापन कर सके; उसको इतनी स्वतन्त्रता अवश्य रहनी चाहिए कि जब

तक वह दूसरो की समान स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप न करने लगे और शालीनता की मर्यादा भग न करे, तब तक वह किसी चीज़ को मानने, न मानने, करने, न करने, या बनाने-बिगाडने के लिए स्वाधीन रहे। आज समाज अधिकाधिक एक नपे-तुले साचे मे ढलता जा रहा है। स्वतन्त्र गति-विधि का क्षेत्र दिन पर दिन सीमित होता जा रहा है। अस्पताल के रोगियो की तरह हम नाम से नही नम्बरो से जाने जाते है, हमारा व्यक्तित्व परिचय की गिनी-चुनी पक्तियो मे बधकर रह गया है। हम आज समाज की स्वतन्त्र प्रजा नही रह गए, बल्कि भीड मे खोई हुई गुम-नाम इकाइया बनते जा रहे है। व्यक्ति सुरक्षा के लिए, आराम के लिए और एकाकीपन तथा उत्तरदायित्व से राहत पाने के लिए भीड का आश्रय ग्रहण करता है। स्वतन्त्रता से हमे डर लगने लगा है। जब हमारे क्रिया-कलापो का नियमन हो रहा हो, तब हमारी कल्पना जो एकान्त मे निवास करती है, पनप नही सकती। जब तक व्यक्ति मे इतना साहस नही कि वह अपने मन मे एकाकी और विचार मे स्वतन्त्र हो सके, तब तक वह कोई महान् साहित्य रचने के योग्य नही हो सकता। लाइटहैड के शब्दो मे, सच्चे धर्म की साधना की तरह महान् साहित्य की साधना भी एकान्त चिन्तन चाहती है। डब्ल्यू० बी० यीट्स कहते है—

"दूसरो से झगड़कर हम अलंकार-शास्त्र की रचना करते हैं, परन्तु स्वय से झगड़कर हम कविता करते हैं।"

साहित्य का लक्ष्य ससार का कल्याण करना है—'विश्वश्रेय काव्यम्'। इसका उद्देश्य ससार को खरी-खोटी सुनाना नही, वरन् उसको बन्धन-विमुक्त करना है। जो सामने है, उसकी चमकीली सतह का प्रतिबिम्ब उतारना इसका कार्य नही है, वरन् इसका कार्य है अनुभव की पुनर्रचना। साहित्यिक कलाकार को एकान्त जगत मे प्रवेश करना ही चाहिए, उसको स्वप्नो की झाकी प्राप्त करनी ही चाहिए और अपने स्वप्नो को धरती पर उतार लाना चाहिए, अपने भावावेगो से उसको स्वरूप प्रदान करके शब्दो के रूप मे उसको गढ डालना चाहिए। साहित्य आध्यात्मिक स्वप्नो और मनुष्यो के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। कवि अदृश्य जगत् का पुरोहित है, वह दैवी विधाता है। उसका काम विदूषक की तरह मनोरजन

करना नहीं है, वह तो एक पैगम्बर है, लोकनायक है, जो अपने समाज की समस्त आकाक्षाओ को प्रेरित करता और नाना प्रकार से उनको अभिव्यक्त करता है। ऐसा करने के लिए उसमे चित्त की एकाग्रता और सत्य के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। यदि हमारे मन मे धूर्तता और हिसा भरी हुई हो, या यदि हम एक-से साचे मे ढली हुई विचारधारा को अपनाकर कठपुतली मात्र बन जाए, तो चित्त की एकाग्रता और सत्यनिष्ठा असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाती है।

यूनानी लोगो मे अकादमी का अर्थ छात्रो के एक ऐसे समूह से था जो किसी अग्रगण्य दार्शनिक के पास दार्शनिक समस्याओ के अध्ययन के लिए एकत्र होता था। प्लैटो (अफलातू) ने लगभग ३८७ ई० पू० मे 'दार्शनिक समाज' (फिलॉसॉफिकल सोसाइटी) की स्थापना की थी। यही पहली अकादमी थी। उस अकादमी मे वह अपने शिष्यो को, जिनमे से अरस्तू भी एक था, पढाया करता था। ये अकादमिया उपनिषद्कालीन आश्रमो के समान थी। पुनर्जागरण (रेनेसा)—कालीन इटली मे ललित साहित्यो के अध्ययन मे रुचि रखनेवाले लोक अपनी अकादमिया बना लेते थे। आधुनिक अकादमिया इन्ही मध्यकालीन अकादमियो की क्रमिक विकसित रूप है। 'फ्रेंच अकादमी' उन पाच अकादमियो मे से है जिनको मिलाकर 'इंस्टीट्यूट ऑफ फ्रान्स' का सगठन हुआ है। 'फ्रेंच अकादमी' मे साहित्यिक व्यक्ति ही सम्मिलित नही है, वरन् उसमे दार्शनिक और इतिहासकार भी है जिनकी कृतिया साहित्य के समकक्ष मानी जाती है। बर्गसन (Bergson), गिल्सन (Gilson) और ग्रुसेट (Grousset) 'फ्रेंच अकादमी' के निर्वाचित सदस्य थे। 'फ्रेंच अकादमी' के समान हमारी यह राष्ट्रीय साहित्य अकादमी भी चाहे तो इतिहास, दर्शन और प्राच्य विद्याओ के कर्ता लेखको को अपने सदस्य बना सकती है।

कोई भी चीज जो बौद्धिक और कल्पनात्मक आनन्द का आवेग प्रदान करती है तथा कुछ नई और उद्दीपक बात कहती है, वह साहित्य है। ऋग्वेद, जो ससार की प्रथम साहित्यिक कृति है, केवल धर्म और प्रतीकवाद नहीं है, वरन् कविता और साहित्य है। बाइबिल, आवेस्ता और कुरान केवल धर्म के प्राचीन महान् ग्रन्थ ही नही है, वरन् साहित्य की

कृतिया भी है । ऋग्वेद के ऋषियो ने उच्च विचारो को सशक्त अनुभूति-पूर्ण शब्दो के आवरण मे प्रकट किया है । पहला ही श्लोक यह है—

"अग्निम ईले पुरोहितम् यज्ञस्य देवम्
ऋत्विजम् होतारम् रत्नधातमम् ।"

ऋषि ने पाच विशेषण यह बताने के लिए दिए है कि अग्नि भौतिक और आध्यात्मिक आशीर्वाद देने के लिए समर्थ है। उपनिषदो मे हमे श्रेष्ठ आदर्श और कलात्मक अभिव्यक्ति के दर्शन होते है । प्रभाव-वृद्धि करने के लिए और पाठक पर छाप छोडने के लिए उनमे कई साहित्यिक उपायो का अवलम्बन किया गया है, उदाहरणार्थ बृहदारण्यक उपनिषद् मे लेखक लगातार कई अनुच्छेदो मे यह बताता जाता है कि किस प्रकार ससार की सारी वस्तुएं, भौतिक सम्पत्तिया और प्रेमिल उल्लास आत्मा के साक्षात्कार के लिए अवसर प्रदान करते है ।

"न वा अरे पत्यु. कामाय पति प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पति॰ प्रियो भवति; नो वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणाम् कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति, आत्मनस् तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति, न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तम् प्रियम् भवति, आत्मनस् तु कामाय वित्तम् प्रियम् भवति," इत्यादि ।

छान्दोग्य उपनिषद् मे कहा गया है—

"यथा, सौम्य, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वम् मृण्मयम् विज्ञातम् स्यात्, वाचारम्भणाम् विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्य एव सत्यम् ।"

इसी बात को उदाहृत करने के लिए स्वर्ण-पिण्ड और कर्त्तनी के रूपको का प्रयोग किया गया है ।

एक अन्य उपनिषद् यह बतलाने के पश्चात् कि हम जागृति, स्वप्न और निद्रा के एक तिमजिले भवन मे रहते हं, बतलाता है कि बौद्धिक तप और सौन्दर्यानुभूति के द्वारा मुक्त-दशा या ज्ञान-दशा को पहुचा जा सकता है—

"नान्त प्रज्ञं, न बहिष् प्रज्ञं, नोभयत प्रज्ञ, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ, ना प्रज्ञ, अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य , अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्यं,

एकात्म-प्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम् शान्तं, शिवं, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा, स विज्ञेय ।"

भगवद्गीता के सौन्दर्य और उसकी गरिमा के उल्लेख की तो यहा कोई आवश्यकता ही नही है।

शकराचार्य के समृद्ध और सुमधुर गद्य को पढना भी आनन्द का विषय है, देखिए—

"स च भगवान ज्ञानैश्वर्य-शक्ति-बल-वीर्य-तेजोभि सदा सम्पन्न, त्रिगुणात्मिकाम् वैष्णवी स्वा माया मूल-प्रकृति वशीकृत्य, अजो, अव्ययो, भूतानाम् ईश्वरो, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावोऽपि सन्, स्वमायया देहवान् इव जात इव लोकानुग्रह कुर्वन् इव लक्ष्यते ।"*

गाधीजी अपनी प्रार्थना मे गुरु गोविन्दसिंह द्वारा रचित ये प्रसिद्ध पक्तिया सम्मिलित करते थे—

"ईश्वर अल्ला तेरे नाम,
मन्दिर मस्जिद तेरे धाम,
सबको सन्मति दे भगवान् ।"

भारतीय लेखक चाहे जिस विषय पर अपनी लेखनी उठावें, वे अपनी रचना मे साहित्यिक सौन्दर्य और विशिष्टता लाने की चेष्टा करते हैं। जैसे कि प्लेटो का 'डायलाग्स' और थुसिडिडेस का 'हिस्ट्री' यूनानी साहित्य के अन्तर्गत ही गिने जाते है, वैसे ही हमारे 'साहित्य' शब्द मे भी धर्म और दर्शन के उच्चकोटि के ग्रन्थो का समावेश होना चाहिए।

हमने विश्व को जो कुछ दिया है, उसमे सबसे महत्वपूर्ण हमारी साहित्य-सम्बन्धी देन रही है। हमारे महाकाव्य और नाटक, हमारी कहानियां और लोकगाथाए प्रकृति के साथ तादात्म्य और मन की स्थिरता-सम्बन्धी महान् आदर्शो का बोध हमे कराती रही हैं। उन्होने देश की विभिन्न भाषाओ के साहित्य को प्रभावित किया है। यूनानी नाटको और एलिजाबेथ-कालीन नाटको (शेक्सपीयर आदि के नाटको) के मध्य जो एक सहस्राब्दि का अन्तर है, उसमे श्री बेरीडेल कीथ के

*भगवद्गीता की टीका।

मतानुसार, भारतीय नाटक ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटको की श्रेणी मे आते है। एक भारतीय नाटक केवल नाटक नही है। यह कविता, सगीत, प्रतीकवाद और धर्म—सब कुछ है। कालिदास, जिनको हमारे देश के बाहर भी बहुत लोग जानते है, की रचनाओ मे एक रूपक के बाद दूसरे रूपक इतनी शीघ्रता से आते जाते है कि विचार की गति उनकी गति का साथ नही दे पाती। जिस प्रकार शेक्सपीयर इग्लैण्ड की, गेटे जर्मनी की और पुश्किन रूस की चेतना का प्रतिनिधित्व करते है, उसी प्रकार शेक्सपीयर मे भारत की आत्मा बोलती है।

इतिहास के न्यायालय मे कोई समाज अपनी कला और साहित्य के द्वारा ही अच्छा या बुरा परखा जाता है। कला और साहित्य ही किसी प्रजाति की शक्ति के प्रतिबिम्ब होते हैं। जब किसी देश की जनता का आत्मिक पतन होने लगता है तब कला और साहित्य भी ह्रासोन्मुख हो जाते है।

आज हम एक ऐसे युग मे रह रहे है, जो परिवर्तन, अध्यवसाय, साहस और अवसर का युग है। आज हमारे क्षितिज विस्तीर्ण हो रहे है। हमारी विचारधारा नवीन प्रभावो से प्रभावित हो रही है। हमारे मन मे आज द्वन्द्व और मतिभ्रम उपस्थित हो गए है। यदि हममे से कुछ लोग खिन्नता और तुच्छता की भावना से पीडित है, तो इसका कारण यह है कि हम मनुष्य की आत्मा की उपेक्षा कर रहे है और उसको आर्थिक प्रलोभनो का दास बना रहे है या उसे असीमित प्रतिक्षेपो (Conditioned reflexes) का समूह बनाए दे रहे है। यह हमारे साहित्यकारो, कलाकारो और विचारको का उत्तरदायित्व है कि वे इस पुरातन प्रजाति की प्रतिष्ठा, इसके सन्देश और इसके प्रारब्ध को पुनः प्रतिष्ठित करें और विचारो का ऐसा नया वातावरण उत्पन्न करे जो साहित्य के विश्वजनीन गणतन्त्र और विश्व-समाज की स्थापना की भूमिका तैयार कर सके।

धर्म का मानव-जीवन में स्थान[1]

आपने मुझे यहा उपस्थित होने और 'धर्म का मानव-जीवन मे स्थान' विषय पर आपसे कुछ शब्द कहने का जो अवसर मुझे दिया है, उसके लिए मैं आपका धन्यवाद करता हू। कई अन्य देशो की भाति हमारे देश मे भी धर्म का लक्ष्य है अन्तिम सत्य का साक्षात्कार, जिसे 'ब्रह्मानुभव' या ईश्वर का दर्शन या 'कृष्णार्जुन-सवाद' भी कहते है। धर्म का लक्ष्य है चेतना के एक नये राज्य का उद्‌घाटन। जब इस चेतना का उद्‌भव होता है तब विश्व के व्यष्टिगत अश आत्मा की केन्द्रीय एकता से अपना महत्त्व ग्रहण करते है। चेतना का यह पुनरुद्‌भव हमारा पुनर्जन्म है। यह पुनर्जन्म, चेतना का यह पुनरुद्‌भव और पुनर्नवीकरण ही धार्मिक साधना का लक्ष्य है।

ससार के सभी ऋषि-मुनी और पैगम्बर, उनका धर्म या सम्प्रदाय चाहे जो हो, हमसे एक ऐसे ईश्वर की कल्पना करने को कहते हैं जो सब देवताओ से ऊपर है, जो समस्त मूर्त्त रूपो और धारणाओ से परे है, जिसका केवल अनुभव किया जा सकता है, पर जिसे जाना नही जा सकता, जो मानवात्मा की शक्ति है और जो ससार मे जो-कुछ भी अस्तित्व रखता है, उसकी अन्तिम परिणति है। ईश्वर की उपस्थिति का सम्मान करना धर्म का उच्चतम रूप है।

ईश्वर की सत्ता का अनुभव हमे ध्यान से, मननशील प्रार्थना से होता

---

[1] ऋषिकेश मे भाषण—१२ अगस्त, १९५४।

है। मनन की सहायता के लिए, मन की एकाग्रता के लिए हम मूर्त्ति-पूजा का आश्रय लेते है। ईश्वर के मूर्त्त रूप का आधार लेकर हमारे विचार आध्यात्मिक ऊचाई पर पहुच जाते है और अन्तत ईश्वर की अमूर्त्त सत्ता का अनुभव करने लगते है। प्रतीक या मूर्त्ति के माध्यम से हम परमेश्वर की ही आराधना करते है।

गिरिजाघरो और मसजिदो की तरह मन्दिर भी मनुष्य द्वारा ईश्वर के अन्वेषण के साक्षी है। हमारे देश मे कई मन्दिर है, जिनमे से कुछ तो ध्वस्त हो चुके है, कुछ सुनसान पडे है, और जो अन्य है उनका भी तब तक कोई औचित्य नही दिखायी देता जब तक हम इनके द्वारा धर्म की सच्ची आत्मा का दर्शन करने मे समर्थ नही होते। इन्ही पवित्र स्थानो के प्रागण मे, अपने व्यस्त दैनिक जीवन से कुछ समय निकालकर हम एक चिरन्तन सत्ता पर अपने मन को केन्द्रीभूत करते है। आधुनिक युग मे हम यान्त्रिक साधनो पर अत्यधिक निर्भर करने लगे हैं, क्योकि उनके सुचारु सचालन से हम भौतिक स्तर पर सुख-सुविधापूर्ण जीवन जी सकते है। ऐसी दशा मे हम आन्तरिक सत्ता की अनुभूति के प्रति विरक्त होने लगे है। जब जीवन का केन्द्र पार्थिव सुख बन जाता है तब हम अपनी स्वतन्त्र आध्यात्मिक चेतना की उपेक्षा करने लगते है।

धर्म का दुरुपयोग करने के कारण हमारे देश को बहुत हानि उठानी पडी है। हम उच्च स्वर से घोषित तो यह करते है कि मानव की सेवा ही ईश्वर की पूजा है। किन्तु, हम ऐसे विश्वासो और व्यवहारो को प्रश्रय देते आ रहे है जो समाज विरोधी है। यदि 'परोपकार' और 'भूतदया' को धर्म का केन्द्रीय स्वरूप समझा जाय, तो किसी भी व्यक्ति को, जो अपने को धार्मिक कहलाने का दावा करता है, उन आचरणो को सहन नही करना चाहिए जो समाज को विशृखल बनाते है। देश मे एक भी ऐसा मन्दिर नही बनना चाहिए जो सामाजिक भेदभाव को अनुमति देता हो। मन्दिरो को सामाजिक अनुशासन और एकता को बढावा देना चाहिए।

यह ऐसा स्थान है जहा बहुत-से साधु और सन्यासी रहते ह। उनको हमारे धर्म का प्रतिनिधि समझकर समाज उनका आदर करता है। सामान्यजन का तो अपना उत्तरदायित्व है ही, परन्तु साधुओ और सन्या-

गियो का उत्तरदायित्व तो उनसे भी बडा है। यह नही कहा जा सकता कि इनमे से सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाओ और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओ से शून्य हैं। बुद्ध ने कहा था—"तुम्हारे केशो ने तुम्हारा क्या बिगाडा है? अपने हृदयो से क्लेशो (अवगुणो) को क्यों नही हटाते?" आज के साधुओ और सन्यासियो की परम्परा बडी महान् है, वे याज्ञवल्क्य, बुद्ध, शकराचार्य और रामानुज के पथावलम्बी हैं, अत उन्हे इस महान् परम्परा के अनुरूप बनने की चेष्टा करनी चाहिए। क्या मैं उनसे विनयपूर्वक निवेदन कर सकता हूं कि उनके गैरिक वस्त्र जिन आदर्शों की घोषणा करते हैं, यदि उनके अनुरूप उनका आचरण नहीं रहा, तो उनके वस्त्र अपवित्र हो जाएँगे?

आज हमे कई ऐसी समस्याओ का सामना करना पड रहा है, जो मानव जाति के सम्मुख इससे पूर्व कभी उपस्थित नही हुई थी। यदि हमे उन समस्याओ का समाधान करना है तो हमारे पास ऐसे नर-नारी होने चाहिए जो धर्म की सच्ची भावना से अनुप्राणित हो। आज शास्त्रीय ज्ञान, 'वाक्यार्थ ज्ञान' की उतनी आवश्यकता नही है जितनी 'आत्म-ज्ञान' की।

जब भारतवर्ष को धर्म-निरपेक्ष राज्य कहा जाता है तब उसका यह अर्थ नही होता कि हमारा राष्ट्र एक अदृश्य आत्मा की वास्तविकता को या जीवन मे धर्म की उपयोगिता को अस्वीकार करता है, या हम अधर्म को बढावा देते हैं। इसका तात्पर्य यह नही है कि धर्मनिरपेक्षता अपने-आप मे कोई विधेयात्मक धर्म बन जाती है, या राज्य के हाथो मे अनियन्त्रित दैवी अधिकार आ जाते हैं। यद्यपि परब्रह्म परमेश्वर की सत्ता मे विश्वास भारतीय परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त रहा है, तथापि हमारा राज्य किसी एक विशिष्ट धर्म को न तो अपना राज्य धर्म बनाएगा और न उससे नियन्त्रित ही होगा। धार्मिक निष्पक्षता-सम्बन्धी हमारी यह धारणा हमारे राष्ट्रीय जीवन मे एक महान् योगदान करने वाली है। देश का कोई भी नागरिक या नागरिको का कोई समूह किसी भी ऐसे अधिकार या ऐसी सुविधा का अनुचित दावा अपने लिए नही कर सकता जिसे वह दूसरो को देने से इकार करता है। कोई भी व्यक्ति अपने धर्म के

कारण किसी भी प्रकार की अयोग्यता या भेदभाव का शिकार नही होगा। सार्वजनिक जीवन मे सभी लोग, चाहे वे किसी भी धर्म को मानने वाले हो, समान रूप से पूर्णतया भाग लेने के लिए स्वतन्त्र होगे। धर्मनिरपेक्षता का यही अर्थ है।

मानव के प्रति प्राचीन एशियाई दृष्टिकोण[1]

कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे ससार के विभिन्न भागो से विभिन्न सस्कृतियो के विद्यार्थी एक स्थान पर एकत्र होते है, और इनसे मनुष्य के सांस्कृतिक प्रारब्ध की पुन. परिभाषा करने और उसकी विशालतर विरासत की फिर से खोज करने का अवसर प्राप्त होता है। जो लोग इस प्रकार के रेडियो-भाषणो का आयोजन कर रहे हैं, वे लोग इस बात से अनुप्रेरित है कि हमारी आज की एक बडी आवश्यकता है दूसरे लोगो और उनकी सभ्यताओ, विशेषकर उनकी नैतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियो को अधिक गहराई से समझने की और उनकी विशेषताओ की प्रशसा करने की। मानव के प्रति एशियाई दृष्टिकोण प्राचीन यूरोपीय दृष्टिकोण से बहुत भिन्न नही रहा है। मुझे राष्ट्रीय और महाद्वीपीय मनोविज्ञान के तथाकथित विज्ञान पर विश्वास नही है जो यह निश्चयपूर्वक कहता है कि सभी एशियाई ऐसे है और सभी यूरोपीय वैसे है। इस प्रकार की चलती-फिरती बातो से किसी जनता के इतिहास के विषय मे जो कुछ पता चलता है, उससे उसका इतिहास कुछ अधिक जटिल हुआ करता है। वास्तव में, एशियाई और यूरोपीय लोगो का आरम्भ एक स्थान से हुआ था, बाद मे उनके विचार अपेक्षाकृत कुछ स्वतन्त्र होते गये और उनमे कुछ ऐसी विशेषताए आती गई जिनसे दोनो एक-दूसरे से कुछ अलग जान पडने लगे।

---

[1] कोलम्बिया विश्वविद्यालय के अर्द्धशताब्दी महोत्सव के लिए रेडियो द्वारा प्रसारित भाषण—अक्तूबर, १९५४ ई०।

एशिया के भीतर भी भिन्न-भिन्न प्रकार के विकास हुए, फिर भी एशिया के विभिन्न भागो के लोगो मे कई बाते समान रूप से पाई जाती है जिनके आधार पर हम मानव के प्रति किसी एशियाई दृष्टिकोण की बात कहने का औचित्य सिद्ध कर सकेगे। यह एशियाई दृष्टिकोण आवश्यक रूप से धार्मिक है। मानव जाति आज जिन-जिन धार्मिक मतो का अवलम्बन कर रही है, उनमे से सभी एशिया से ही उत्पन्न हुए है। उदाहरण के लिए, कन्फ्यूशियन और ताओ धर्म चीन मे, हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म भारतवर्ष मे, जोरोस्ट्रियन (पारसी) धर्म ईरान मे, जूडा और ईसाई धर्म फिलस्तीन मे, और इस्लाम धर्म अरब मे उत्पन्न हुए। पाश्चात्य देशो की जनता आज जिन धर्मों को मानती है, वे सभी एशिया से गए है। इस छोटी-सी चर्चा मे विभिन्न धर्मों के विकास को विस्तार मे बतलाना सम्भव नही हो पाएगा। मैं यहाँ भारतीय दृष्टिकोण, जिससे मैं कुछ-कुछ परिचित भी हू, के विषय मे कुछ बतलाकर ही सन्तोष करूगा। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि भारतीय सस्कृति ने एशिया के विचार और कला के काफी बडे अश को प्रभावित किया है और ससार के अन्य भाग भी उससे अछूते नही रहे है। विभिन्न प्रजातियो, भाषाओ और सस्कृतियो से सम्बन्ध रखने वाले लोग इस भारत भूमि मे मिले, और यद्यपि हम उनमे यदा-कदा संघर्ष होने की भी बात पढते है, तथापि वे एक समान सभ्यता के सदस्यो के रूप मे इस देश मे बस गए। उनके द्वारा जिस समान सभ्यता का विकास हुआ, उसकी प्रमुख विशेषताएँ है—एक अदृश्य सत्ता मे, जो समस्त प्राणियो के रूप मे अपने को व्यक्त करती है, आस्था, आध्यात्मिक अनुभव की प्रधानता; बौद्धिक सामान्यको का दृढता से पालन और प्रत्यक्षत परस्पर विपरीत दिखाई देने वाली वस्तुओ मे समरसता स्थापित करने की उत्कठा।

एक सिद्धान्त जिसके द्वारा भारतीय सस्कृति बाहरी ससार मे अच्छी तरह जानी जाती है, वह है 'तत् त्वम् असि'। मनुष्य की आत्मा मे ही चिरन्तन सत्ता का निवास है। वह परम सत्य जो सभी वस्तुओ के अन्तरतम मे निवास करता है, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का ही सार अश है। जिस साधक की वासनाएँ प्रशमित हो चुकी है, वह अपने अन्तर मे उस परम

सत्य की विभूति के दर्शन करता है। चूंकि उस अलौकिक सत्ता का प्रतिबिम्ब मनुष्य में है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य पवित्र हो उठता है। यदि हम मनुष्य को केवल मांस-पिण्ड या केवल मन मानकर उसको अपने मनोनुकूल ढालने के लिए उस पर अधिकार करना चाहते है, तो हम यह भूल जाते है कि वह आवश्यक रूप से वह वस्तु है जिसे हम छू नहीं सकते, जिसे बन्धन मे बांधकर रख नही सकते, जिस पर अधिकार नही कर सकते और जो ईश्वर की प्रतिमूर्त्ति है और बिल्कुल उस-जैसी है तथा जो किसी प्राकृतिक आवश्यकता की उपज नही है। मनुष्य सासारिक चक्र मे फेकी हुई वस्तु नहीं है। आध्यात्मिक प्राणी के रूप मे वह प्राकृतिक और सामाजिक जगत् के स्तर से ऊपर उठा हुआ है। वह प्रधानत. विषय है, वस्तु नही। आधुनिक अस्तित्ववाद (extentialism) बतलाता है कि वस्तुओ के सम्बन्ध मे विवेचन करने वाला विचार चिन्तक और अस्तित्वशील व्यक्ति के लिए अपर्याप्त होता है। मनुष्य की आन्तरिक वास्तविकता की समानता उन गुणो से नही की जानी चाहिए जिनसे उसकी परिभाषा की जाती है, और न उन बाह्य सम्बन्धो के साथ उसकी आन्तरिक वास्तविकता की तुलना की जा सकती है जिनके साथ वह बधा हुआ है। हम आत्मा को उसी अर्थ मे नही जानते जिस अर्थ मे हम किसी पदार्थ को जानते है। जब हम कभी अन्तर्मुख होकर देखते है तब पाते हैं कि अपने आन्तरिक जीवन के विषय मे हमारा ज्ञान सीमित है—एक सीमा से अधिक उसके विषय मे हम नही जान सकते। प्रत्यक्षीकरणो (perceptions), विचारो (thoughts) और अनुभूतियो (feelings) की अपेक्षा आत्मा अधिक गहनतर है। हम न तो उसे देख सकते है और न उसकी परिभाषा कर सकते है, क्योकि देखने और परिभाषा करने का काम तो आत्मा ही करती है। यह वह आंख है जो हमारे जानने की वस्तु (object) नहीं वरन् जानने का विषय (subject) है। यह हृदयगम की जा सकती है, किन्तु विचार के द्वारा नही, वरन् हमारे समस्त अस्तित्व के द्वारा। इसके पश्चात् ही हम प्रत्येक व्यक्ति मे परम सत्ता की सान्निध्य उपस्थिति का भान कर पाते हैं।

भारतीय महान् ग्रन्थ, भगवद्गीता मनुष्य की आत्मा को अमर

बताती है। शस्त्र आत्मा को काट नही पाते, अग्नि उसको जला नही पाती, जल उसे भिगो नही पाता और हवा उसे सुखा नही पाती। आत्मा काटे जाने के योग्य नही है, वह जलाई नही जा सकती, वह न भिगोई जा सकती है और न सुखाई जा सकती है, वह शाश्वत है, वह सर्वव्यापक है, अपरिवर्तनशील है, उसको हटाया नही जा सकता, वह सतत एक-सी रहती है।

व्यक्तित्व के लिए अग्रेजी मे 'पर्सनैलिटी' (personality) शब्द आता है। उस शब्द का निर्माण लेटिन के 'पर्सोना' (persona) शब्द से हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है अवगुण्ठन या नकाब जिसे रगमच पर अभिनय करते समय अभिनेता अपने मुख पर डाल लेता है। उस नकाव के भीतर से वह अपना पार्ट बोलता है। अभिनेता एक अज्ञात, अनाम व्यक्ति होता है जो नाटक से मूलतः विलग, विरक्त रहता है। वह नाटक मे अभिनीत पीडाओ और मनोविकारो से निर्लिप्त रहता है। नाटक की वेश-भूषाओ के भीतर वास्तविक व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रच्छन्न, आवेष्टित और अवगुण्ठित रहता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के घेरे से छूट कर उसकी वास्तविक सत्ता की अथाह गहराइयो तक पहुंचना अनुशासित प्रयत्न से ही सम्भव हो सकता है। प्रत्यक्ष व्यक्तित्व की अनेक परतो का भेदन करके व्यक्ति जीवन के निर्लिप्त अभिनेता के पास तक पहुचता है। मनुष्य बाह्य रूप मे जैसा और जितना कुछ दिखाई देता है, उससे वहुत अधिक वह होता है। जव क्रीटो (Crito) ने पूछा—"सुकरात! तुम्हे हम किस प्रकार दफनाएँगे?" तव सुकरात ने उत्तर दिया था—"जिस प्रकार भी तुम चाहो, परन्तु पहले मुझको, वस्तुत जो 'मैं' हूँ उसको तो पा लो। फिर मेरे प्यारे क्रीटो, तुम खुशी-खुशी कहना कि तुम मेरे केवल शरीर को दफना रहे हो, और उस शरीर के साथ तुम जो कुछ लोक व्यवहार मे होता आया है, या जैसा भी तुम ठीक समझो, करना।"

भारतीय विचारक आत्मा के सामने प्रकृति का विरोध नही करते। जव मनुष्य का प्राकृतिक जीवन अपने अस्तित्व मे आता है तव उसका आध्यात्मिक स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। मनुष्य की चरम उन्नति उसी के हाथ मे होती है। अन्य जीवधारियो की तरह मनुष्य का भविष्य उसके जैविक अतीत (bialogical past) से निर्धारित नही होता। इसका

नियन्त्रण होता है विश्व-सम्बन्धी मनुष्य की योजनाओं द्वारा। वैयक्तिक भाव से रहित विश्व मे मनुष्य एक नगण्य बिन्दु की भाति नही है। हम जब मनुष्य की अन्तर्निहित चेतना को ओझल कर देते है, जब स्वय को ससार मे खो देते है, तब हम जीवन को सग्रह, परिग्रह समझने की भूल कर बैठते है, दलदल मे फँसे हुए व्यक्ति की तरह हम सम्पदा के माया-जाल मे फँस कर उससे छूटने के लिए हाथ-पैर मारते है; हम अपनी शक्तियो का अपव्यय करते है, जीवन के निमित्त नही, वरन् वस्तुओ के निमित्त। हम अपने घरो, अपने धन और अपनी अन्य सम्पत्तियो का उपयोग करने के बजाय उनको अपना स्वामी और प्रयोक्ता बना डालते है। सासारिक सुख हमारे लिए नही, बल्कि हम उनके लिए हो जाते है। इस प्रकार हम आध्यात्मिक जीवन से रिक्त हो जाते है, और आत्मा-रहित बन जाते है। प्रकृति के प्रति मोह और आध्यात्मिक गरिमा की सगति नही बैठती। हमारे लिए यह आवश्यक नही कि हम प्रकृति की कमियो को दूर फेक दे। हमारे शरीर भगवान् के मन्दिर हैं। 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।' धर्म-साधना के लिए हमारे शरीर ही साधन-स्वरूप है। जब मानव प्राणी बहुत स्पष्ट रूप से ज्ञानवान्, बहुत जागृत होते है, तब वे अनुभव करते है कि किसी न किसी अर्थ मे, जिसे स्पष्टतया व्यक्त नही किया जा सकता, वे आत्मा की अभिव्यक्ति के साधन हैं, आत्मा के पात्र हैं। जब हम इस बात को समझ जाते है तब हम व्यक्तिवाद से ऊपर उठ जाते है, तब हम देखते है कि हम और हमारे साथी मानव एक ही आत्मा की अभिव्यक्तिया है, प्रजाति, रग, धर्म तथा राष्ट्र के विभेद सापेक्षिक सम्भावनाएँ बन जाते है। हमे यहा सुकरात द्वारा मृत्यु-शय्या से कही हुई यह बात स्मरण होती है—"मैं न ऐथिनियन हूँ, न यूनानी, मैं तो ससार का नागरिक हूँ।" 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।' भगवद्गीता हमे बताती है कि सच्चा धार्मिक व्यक्ति दुःख मे हो या सुख मे, प्रत्येक वस्तु को अपनी ही आत्मा की प्रतिमूर्ति समझ कर उनके साथ समानता का व्यवहार करता है।

जब हम इस बात पर जोर देते है कि मनुष्य के भीतर दैवी शक्ति का निवास है, तब इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक भी ऐसा व्यक्ति

नहीं है, चाहे वह कितना ही बडा पापी क्यो न हो, जिसको दोषमुक्त न किया जा सके, जिसके सोये देवत्व को जगाया न जा सके। ऐसा कोई स्थान नही है जिसके द्वार पर यह लिखा हो—"श्रो, इस स्थान मे प्रवेश करनेवाले! तुम सारी श्राशाये त्याग दो।' कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो नितान्त बुरा हो। जिनको लोग बुरा मनुष्य कहते हैं, उनके चरित्र को हमे उनके जीवन के प्रसग मे समझना होगा। कदाचित् अपराधी या पापी व्यक्ति ऐसे रुग्ण मनुष्य होते है जिनका प्रेम अपना उचित लक्ष्य खो चुका होता है। सभी मनुष्य चिरन्तन सत्ता के शिशु है, वे 'अमृतस्य पुत्रा' है। प्रत्येक व्यक्ति मे चेतना होती है जो उसकी आत्मा का ही एक अश होती है। और जो व्यक्ति के अस्तित्व का आधार होती है। कुछ लोगो मे यह चेतना पशुता तथा हिसा के ऊसर मलबे के नीचे किसी खजाने की तरह दबी पडी हो सकती है—परन्तु वह प्रति क्षण वहाँ गतिशील तथा जीवित अवस्था मे होती है और उपयुक्त अवसर पाते ही सतह पर आने के लिए हर समय तैयार रहती है। जो प्रकाश इस ससार मे आए हुए प्रत्येक मनुष्य को प्रकाशित कर रहा है, उसको बुझाया नही जा सकता। हम इसे चाहे या न चाहे, हम इसे जानते हो या न जानते हो, ईश्वर तो हमारे भीतर है और इसके साथ चैतन्य एकत्व की प्राप्ति ही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। एक जापानी जैन बौद्ध सन्त का कथन है—"कोई भी पुरवा (छोटा गाँव) ऐसा गया–बीता नही है, जहाँ रुपहले चाँद की चाँदनी न पहुँच पाती हो, और कोई मनुष्य ऐसा नही है जो अपने विचारो के झरोखे को पूरी तरह खोल देने के बाद दैवी सत्य का दर्शन न कर सके और उसे हृदयगम न कर सके।"

प्रकाश और अन्धकार के राज्यो के बीच तथा स्वर्ग और नरक के बीच जो अन्तर है वह रक्षणीय नही है, वह टिकाऊ नही है। अनन्त सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता और उसका विश्वजनीन प्रेम हार नही मान सकते। हिन्दू और बौद्ध मतवाद व्यापक मोक्ष या निर्वाण का लक्ष्य लेकर चलते है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा की मान्यता के अनुसार, बुद्ध बुद्धत्व-प्राप्ति की अन्तिम सीढी तक पहुचने से जानबूझ कर इसलिए बच गए, ताकि वे उस मार्ग पर बढने वाले अन्य लोगो की सहायता कर सके।

उन्होने प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं तब तक निर्वाण की स्थिति मे प्रविष्ट नही हूगा जब तक ससार की समस्त वस्तुएँ, जिनका अस्तित्व है, अपवित्र हो सकने वाली धूल का प्रत्येक कण निर्वाण के लक्ष्य तक नही पहुँच जाता।

इसका यह अर्थ नही कि हिन्दू और बौद्ध धर्म अच्छे और बुरे, पुण्य और पाप मे कोई भेद ही नही करते। इसका अर्थ केवल यह है कि बुराई भी सदा बुराई नही रह सकती, पापी के पुण्यात्मा बनने के भी अवसर है। ईश्वर आत्मा को निरन्तर क्रमिक रूप से आध्यात्मिक सुअवसर प्रदान करता रहता है। यदि मनुष्यो को केवल एक अवसर दिया गया है, तो जीवन का अन्त होने पर उनके कर्मो के अनुसार उनका निर्णय होता है। यदि उनके कर्म अच्छे रहे है तो ईश्वर उनको बचा लेता है और यदि बुरे रहे हैं तो उनको दण्ड देता है। इस प्रकार का सिद्धान्त इस मान्यता के साथ मेल नही खाता कि ईश्वर असीम प्रेमालु और असीम दयालु है। भारत का आदर्श ऐसा रहा है जो मनुष्य को समय के हाथों मे खेलनेवाला प्राणी नही बना देता, वह मनुष्य को पूर्णतया अपनी भौतिक परिस्थितियो और सम्पदाओ पर निर्भर या उन्ही तक सीमित नही बना रहने देता। हमने तो यह घोषणा की है कि ससार एक नैतिक नियम के द्वारा सचालित हो रहा है और जीवन मनुष्य के नैतिक चुनाव का एक दृश्य है। जैसी हमारी नैतिक पसन्द होगी, वैसा ही हमारा जीवन होगा। जीवन तो 'धर्मक्षेत्र' है। मनुष्य कभी भी, किसी भी समय पूर्णत्व की उपलब्धि के लिए प्रयत्न कर सकता है और उसे पा सकता है। इसमे विलम्ब जैसी कोई बात नही। हिन्दुओ और बौद्धो की दृष्टि मे धर्म एक रूपान्तरकारी अनुभव है। धर्म कोई ईश्वर-विषयक सिद्धान्त नही है, यह तो आध्यात्मिक चेतना है, सृष्टि के परम सत्य तक पहुँचनेवाली अन्तर्दृष्टि है। विश्वास और आचरण, संस्कार और समारोह, धार्मिक सिद्धान्त और उनके शास्त्र—ये सारी चीजे चैतन्य आत्मान्वेषण की कला और ब्रह्म से सपर्क के सामने गौण है, उनके अन्तर्गत हैं। जब व्यक्ति अपनी आत्मा को समस्त बाह्य घटनाओ से विरत कर लेता है, अन्तर्मुख होकर अपनी शक्ति को भीतर ही भीतर संग्रह करता है, एकाग्र चित्त होकर प्रयत्न करता है,

तब उसको अकस्मात् एक पवित्र, विचित्र, अद्भुत अनुभव होता है। वह अनुभव उसकी आत्मा को बडी शीघ्रता से व्याप्त कर लेता है, उसको अभिभूत कर लेता है और वह उसका अपना अस्तित्व ही बन जाता है। इस प्रकार के अनुभव की सम्भावना ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि ईश्वर का अस्तित्व है। जो लोग विज्ञान और तर्क-बुद्धि के शिशु है, उन को भी आध्यात्मिक अनुभव के तथ्य को, जो एक प्रधान एव विधेयात्मक तथ्य है, स्वीकार करना ही चाहिए। हम विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तो से मतभेद रख सकते है, उनकी सत्यता मे सन्देह कर सकते है, परन्तु हम तथ्यो से इकार नही कर सकते। जीवन की धधकती हुई आग हमे बाध्य कर देती है कि हम उसके अस्तित्व को स्वीकार करे, उसको आग कहे, परन्तु यह अवश्य है कि आग को घेर कर बैठे हुए तम्बाकू पीने वालो की बेसिर-पैर की अटकलबाजियाँ हमे ऐसा कहने को बाध्य नही कर सकती।

ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति, उसका साक्षात्कार तो एक तथ्य है, जब कि उसके अस्तित्व का सिद्धान्त अनुमान है। चिरन्तन सत्ता से सम्पर्क एक बात है और उसके विषय मे सम्मति निर्धारित करना दूसरी बात। ईश्वरत्व के रहस्य और ईश्वर के प्रति विश्वास मे अन्तर है।

बौद्धिक आत्मभरता (Rationalistic self sufficiency) एक भयावह वस्तु है। यह सोच लेना खतरे से खाली नही है कि जितना कुछ अपनी बुद्धि से हम जान चुके है, उससे अधिक कुछ जानना शेष नही है। इस विश्वास के कारण मानव की धार्मिक विचारणा बुरी तरह कुण्ठित और पगु हो गई है कि सत्य को प्राप्त किया जा चुका है, सत्य का स्वरूप, उसका प्रतिमान निर्धारित किया जा चुका है और अब मनुष्य के लिए इससे अधिक कुछ शेष नही रहा कि वह अपनी तुच्छ बुद्धि के द्वारा एक अनन्त पूर्ण शक्ति, जो हमसे बहुत दूर है, के स्वरूप के विषय मे कुछ पूर्व-सग्रहीत बातो को ही यत्किचित् मात्रा मे पुन दुहरा दें। तथाकथित इलहाम या दैवी प्रकाशन (revelation) पर आधारित जो दावे निर्भ्रान्त सत्य के सम्बन्ध मे किए जाते है, उनको धर्म के समकक्ष नही बताया जा सकता, क्योकि वे आध्यात्मिक साहसिकता मात्र है। मनुष्य के जीवन की सिद्धि आध्यात्मिक अनुभव है जिसमे मनुष्य के अस्तित्व का प्रत्येक पक्ष

अपने उच्चतम बिन्दु तक उठ जाता है, सम्पूर्ण ज्ञान-शक्तियाँ एकत्र हो जाती हैं, सम्पूर्ण मन का उन्नयन होता है और वह एक रोमांचक क्षण में ऐसी वस्तुओं की अनुभूति कर लेता है जिसको व्यक्त करना किसी प्रकार सम्भव नहीं, गूँगे के गुड से ही जिसकी उपमा दी जा सकती है। यद्यपि वाणी उस रोमांचक अनुभूति के विषय में कुछ बताने में असमर्थ होती है और मन उसकी कोई कल्पना करने में अशक्य होता है, तथापि आत्मा की कामना और प्रेम, उसकी इच्छा और उत्कण्ठा, उसकी जिज्ञासा और चिन्तना उस अनुभूति के कारण एक उच्चतम चेतना और स्फूर्ति से परिपूर्ण हो जाती है। यही धर्म है। धर्म के विषय में तर्क या शास्त्रार्थ करना धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं है।

धर्म के सिद्धान्तों का निर्माण करते समय हम आत्मा के अस्तित्व को किसी वस्तु की प्राप्ति में बदल डालते हैं। जिस शक्ति ने प्रारम्भ में हमारे अस्तित्व को समाविष्ट किया था उसको हम उस वस्तु में रूपान्तरित करते हैं जिसका समावेश हम स्वयं करते हैं। इस प्रकार यह कुल अनुभव ज्ञान का एक विषय बन जाता है। धार्मिक मतवादों के सम्बन्ध में हमारा जो झगड़ा है, वह ज्ञान के इन आंशिक विषयों को लेकर ही है। जिन बातों के विषय में धर्म चुप रहता है और जिनके विषय में वह बोलता है, उनको यदि गहराई से देखा जाय, तो वे एक-सी ठहरती हैं। एक ऐसा समान धरातल है जिस पर विभिन्न धार्मिक परम्पराएँ आधारित हैं। उस समान धरातल पर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति उससे हुई है जो अनैतिहासिक है, जो चिरन्तन है। ऐतिहासिक अध्ययनों से पता चलता है कि कुछ आधारभूत बातें सभी धर्मों में पायी जाती हैं। उन आधारभूत सिद्धांतों पर ही भविष्य की आशा टिकी है। उनसे ही संसार में धार्मिक एकता स्थापित हो सकेगी और विभिन्न संस्कृतियों में सहानुभूति बढ़ेगी। जीवन के प्रति एशियाई दृष्टिकोण की प्रमुख बातें पश्चिम के आध्यात्मिक जीवन की महान् परम्परा में भी पाई जाती हैं और वही बातें क्षितिज की देहरी पर खड़े नये संसार के लिए मूलभूत रचनात्मक आधार का निर्माण करेंगी। वे बातें हैं—आत्मा की दैवी शक्तियाँ, लोकतन्त्र में आस्था, समस्त प्राणियों और सृष्टि में एकत्व की

भावना, विभिन्न धर्मों और सस्कृतियो मे सक्रिय समझौते की सतत चेष्टा, ताकि मानव जाति मे एकता बढायी जा सके।

आधुनिक सभ्यता जो अधिकाधिक प्रौद्योगिक बनती जा रही है, सत्य के एक सीमित स्वरूप पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है। वह मानकर चलती है कि जिन बातो को वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित किया जा सकता है, केवल उन्ही को क्रिया का आधार बनाया जा सकता है। कुछ वैज्ञानिक और प्रविधिविज्ञ जिनके हाथ मे हमारे वर्तमान युग की बागडोर है, वे मनुष्य को विशुद्ध यात्रिक और भौतिक प्राणी बतलाते है। वे कहते है कि मनुष्य स्वतत्र प्रतिक्षेपो (automatic reflexes) का बना हुआ है। वे नर-नारियो की उन प्रवृत्तियो या रुझानो पर बल देते है जो अधिकतर पार्थिव हैं। मनुष्य के भीतर जो उच्चतर पवित्रता विद्यमान है उसकी ओर से वे आँख मूदते-से जान पडते है। जो लोग इस युग मे पैदा हुए है, वे जीवन मे आस्था की कमी का अनुभव कर रहे है, वे आध्यात्मिक दृष्टि से विस्थापित हे, वे सास्कृतिक दृष्टि से उखडे हुए है और वे परम्पराविहीन है। मनुष्य के उद्धार की आशा अब बस इस बात मे है कि उसमे आध्यात्मिक चेतना पुन जगे, वह यह अनुभव करने लगे कि वह एक अपूर्ण प्राणी है और अपने पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए उसे ईश्वर के साम्राज्य को, जो उसमे ही अन्तर्निहित है, लक्ष्य बनाकर चलना है। "वे सभी युग जिन पर विश्वास का, चाहे वह विश्वास कैसा भी हो, प्रभुत्व रहता है, उनमे एक अपनी दीप्ति, एक अपना आनन्द होता है और वे अपनी जनता तथा अपनी भावी सतति के लिए फलदायक होते हे। वे सभी युग जिन पर अविश्वास, वह अविश्वास चाहे कैसा भी हो, अपनी दु खद पताका फहरा देता है, उनकी उपेक्षा उन्ही की सतति द्वारा होने लगती है, क्योकि कोई भी व्यक्ति निष्फल वस्तुओ के सहारे अपने जीवन को घसीटना नही चाहता।" शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जो गेटे के उपर्युक्त कथन की सत्यता को अस्वीकार कर सके, या इस बात से इन्कार करे कि यह युग अविश्वास का युग है। इस युग मे विश्वास की ज्योति का उतना अभाव नही है जितना अभाव इस बात का है कि लोगो मे विश्वास करने की क्षमता ही नि शेष हो गई है। एक समाज के

रूप में, आधुनिक समाज वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को ही भूल चुका है। आज लोगों के मनों में एक ऐसी रिक्तता आ गई है जिसे भरने में अपने सिद्धान्तों का ढिंढोरा पीटनेवाले कट्टरपंथी धर्म असमर्थ हो रहे हैं। जब कि पुराने देवता, पुराने सत्य और पुराने मूल्य फीके पड़ते जा रहे हैं, जब स्वयं जीवन की ज्योति मन्द पड़ गई है, जब इसके सारे स्वरूप अपना पञ्जा कसते जा रहे हैं, जब जीवन दूभर हो गया है, तब कुछ उग्र प्रकृति के लोगों को यह असह्य हो उठा है कि उन पुराने सत्यों तथा मूल्यों के स्थान पर नई और महानतर आस्थाओं की प्रतिष्ठापना करने में विलम्ब किया जाय। हम लोग इतने अधिक धार्मिक हो गए हैं कि इस नाजुक परिस्थिति को सम्भालने के अयोग्य सिद्ध हो रहे हैं।

जब यूनानी—रोमन सभ्यता की तूती बोल रही थी तब वह अपने द्वारा विजित लोगों को कोई धर्म प्रदान करने में असफल रही; इसके विपरीत, वह उन लोगों द्वारा प्रदत्त धर्म के द्वारा एक दिन जीत ली गई। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आज एशिया के लोग विज्ञान और औद्योगिकी पर आधारित इस नए संसार को आध्यात्मिक चेतना प्रदान कर सकें? पश्चिम के पास इतने और ऐसे भौतिक तथा राजनीतिक साधन हैं जिनसे वह एक ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था का ढाँचा प्रदान कर सकता है जिसके अंतर्गत विभिन्न सभ्यताएँ परस्पर घुल-मिल सकती हैं और उनके मध्य सफल आदान-प्रदान की प्रक्रिया चल सकती है, और इस प्रकार संसार की आध्यात्मिक दरिद्रता पर विजय पाई जा सकती है। यदि आध्यात्मिक चेतना का पुनर्जागरण नहीं होता, तो हमारी वैज्ञानिक सफलताएँ हमारा किसी भी क्षण विनाश कर दे सकती हैं। हम प्रारब्ध के दिनों में जीवित रह रहे हैं। या तो संसार अग्नि की लपटों में धू-धू कर जल उठेगा या वह शान्ति के साथ सुस्थिर हो जाएगा। वह इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितनी गम्भीरता से अपने युग की समस्याओं का सामना करते हैं।

हमारी समस्त वैज्ञानिक प्रगति का उपभोग करने में समर्थ और संसार के केन्द्रीभूत विकसित ज्ञान का उपयोग करने वाले एक मानव समाज का निर्माण किया जा सकता है बशर्ते कि आज के उच्च पदाधि-

कारी और सत्ताधारी लोग कुछ अनुशासन और कठोर नियमो मे बँधकर व्यवहार करे। हम विश्वास दिलाते है कि यह सारी कठोरता और अनुशासन उससे कम ही तीव्र होगे जो युद्ध छिड जाने की दशा मे उन्हे भुगतने पडेगे।

मैं अपने भाषण को एक प्राचीन प्रार्थना से समाप्त करना चाहूगा—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दु खभाग भवेत्॥
शान्ति ! शान्ति ! शान्तिः !

[यहाँ सब लोग सुखी हो, सभी लोग स्वस्थ हो, सभी लोग कल्याण का दर्शन करे और कोई भी दु खभागी न बने। शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !]

आध्यात्मिक चेतना जगाना आवश्यक*

मैं भारतीय विश्वविद्यालयों की ओर से, इस शुभ अवसर पर, आपके इस २०० वर्ष प्राचीन महान् विश्वविद्यालय के प्रति, इसकी उन सेवाओं के लिए जो इसने विज्ञान और ज्ञान की वृद्धि मे की है, अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की अनुमति चाहता हूँ।

आजकल संसार की जो स्थिति है, उस पर से मुझे एक महत्त्वपूर्ण लघु कथा स्मरण हो आती है। "ईसा मसीह एक श्वेत मैदानी स्थान से एक नील लोहित नगर मे आए। अभी वे पहली ही सडक से गुजर रहे थे कि उन्हे अपने ऊपर की ओर से कुछ आवाजे आती सुनाई दी। उन्होने सिर उठा कर देखा तो पाया कि एक युवक शराब मे बदहवास होकर एक गवाक्ष मे पडा था। उन्होने पूछा—'तुम शराब पीने मे अपना समय व्यर्थ क्यो खोते हो?' उसने कहा—'प्रभु! मैं कोढी था और आपने मुझे स्वस्थ किया। अब इसके अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकता हू?' कुछ दूर आगे-जाने पर, उन्होने देखा कि एक युवक एक पुश्चली स्त्री के पीछे-पीछे जा रहा था। ईसा ने कहा—'तुम दुश्चरित्रता मे अपनी आत्मा को इस प्रकार क्यो गला रहे हो?' उसने उत्तर दिया—'प्रभु! मैं अधा था, आपने मुझे नेत्र दिये, मैं इसके अतिरिक्त और करूँ भी क्या?' अन्तत नगर के मध्य मे पहुच कर ईसा ने देखा कि एक वृद्ध

*कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे सयुक्त राष्ट्र संघघोषणा-पत्र दिवस पर आयोजित भोज मे भाषण—३० अक्तूबर, १६५४।

धरती पर पड़ा है और फूट-फूटकर रो रहा है। जब उन्होने पूछा कि भाई, तू रो क्यो रहा है, तब उसने उत्तर दिया—'प्रभु ! मैं मृत था, आप ही ने मुझे पुन जीवन दिया, मैं रोऊँ नही तो और करूँ क्या ?'

स्वास्थ्य, धन अवकाश और स्वय जीवन, जिनकी वृद्धि मे विज्ञान योग दे सकता है, एक उच्चतर जीवन के लिए अवसर प्रदान करते है। हमारी पीडित पीढी को अस्पष्ट रूप से ज्ञात है कि वर्तमान सकट आध्यात्मिक है, और हमे आवश्यकता इस बात की है कि भयावह अनुपात मे बढ रहे शक्ति के बाह्य साधनो और क्रमशः ह्रासोन्मुख आत्मा के आन्तरिक साधनो के मध्य जो अनैक्य है, उसको दूर किया जाए।

डूबती हुई सभ्यता को उबारने के लिए और उसकी पुनर्रचना करने के लिए हमे आध्यात्मिक चेतना को पुनर्प्राप्त करने की आवश्यकता है, हमे जीवन के आन्तरिक उत्स के साथ नवीन सपर्क स्थापित करना है ताकि हमारा कायापलट हो सके। हमे नैतिक मूल्यो के महत्त्व को समझना है। यह मेरी हार्दिक आशा और प्रार्थना है कि यह महान् विश्वविद्यालय आने वाले वर्षो मे ऐसे नर-नारियो को प्रशिक्षित करके भेजता रहे जो कुशल हो, योग्य हो, जिनमे दूरदर्शिता और साहस हो; जो विवेकी हो, गुणवान हो, जो भयाक्रान्त न हो और अन्याय को चुपचाप सहन न करें।

कृषि हमारी अर्थव्यवस्था का मूलाधार*

मुझे यहा आकर इस विद्यापीठ के स्वर्ण जयन्ती-समारोह का उदघाटन करते हुए प्रसन्नता हो रही है। यह विद्यापीठ जो 'पूसा इस्टीट्यूट' के लोकप्रिय नाम से पुकारा जाता है, एक छोटे से विद्यालय से आरम्भ होकर कृषि-अनुसधान के क्षेत्र मे अपने आज के महत्त्वपूर्ण स्थान पर पहुच गया है। यह विद्यापीठ आज ससार मे कृषि-अनुसधान का एक प्रमुख केन्द्र माना जाता है।

इस अवसर पर यह उचित ही है कि हम उन लोगो का स्मरण करें, जिन्होने इस विद्यापीठ के निर्माण मे और इसको इसके वर्तमान पद पर पहुचाने मे सहायता की। इस विद्यापीठ की स्थापना का श्रेय अग्रेज शासको की कल्पना और एक अमेरिकन मित्र श्री फिप्स की उदारता को है। विभिन्न शाखाओ के अग्रणी कार्यकर्त्ताओ ने यहाँ अध्ययन किया और यहाँ उच्च परम्पराएं स्थापित की। आपको उन परम्पराओ को यदि आगे बढाने का नही, तो कम से कम उनको यथावत् बनाये रखने का तो प्रयत्न करना ही चाहिए। लियोनार्डो ने लिखा था—"प्रकृति और मानव के मध्य 'प्रयोग' ही सच्चा व्याख्याता है।" "हे ईश्वर! तू श्रम के मूल्य पर हमे सारी वस्तुएँ बेचता है।"

हम यह जयन्ती ऐसे समय मना रहे हैं जब खाद्यान्नो के उत्पादन मे

---

*भारतीय कृषि अनुसंधान-विद्यापीठ (इण्डियन ऐग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टिट्यूट) मे उद्घाटन-भाषण—१ अप्रैल, १९५५।

क्रमश' वृद्धि दिखाई दे रही है। इसके लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन, ग्रामीण विकास परियोजनाओ और अच्छी वर्षा को धन्यवाद है। इस सम्बन्ध मे हमे स्वर्गीय रफी अहमद किदवई की सेवाओ को नही भूल जाना चाहिए। किदवई साहब मे असाधारण साहस, सकल्प और उत्साह था। हमारी आज की समस्या खाद्यान्न की कमी की नही है, वरन् अतिरिक्त बचत और कृषि-उत्पादनो के मूल्यो मे गिरावट की है। मुझे प्रसन्नता है कि हमारी सरकार इस परिस्थिति से अवगत है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे हम औद्योगीकरण की साहसपूर्ण योजना आरम्भ कर रहे हैं। द्वितीय योजना कृषि का भार घटाकर उसमे लगे हुए अनावश्यक व्यक्तियो को उद्योगो मे लाभप्रद रोजगार देना चाहती है। यह सब होते हुए भी हमारी राष्ट्रीय समृद्धि का आधार कृपि ही बनी रहेगी। उन्नतिशील देशो के इतिहास को देखने से पता चलता है कि भूमि उनकी समृद्धि का मुख्य स्रोत बनी रहेगी। कोई भी देश, चाहे वह कितना ही अधिक औद्योगिक हो, यदि उसकी कृषि-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था सकीर्ण या निर्बल हो जाय, तो वह अपने को नही बनाये रख सकता। इग्लैण्ड की 'औद्योगिक क्राति' अधिकतर सस्ते खाद्यान्न और चारे के फलस्वरूप हुई, क्योकि इनको वह अमेरिका से आयात करता था। ससार के बाजार मे अमेरिका को जो प्रमुखता प्राप्त है, उसका कारण भी यही है कि उसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न है। सोवियत सघ की प्रभावशील उन्नति के पीछे भी विस्तृत कृषि आधार वाली उसकी अर्थव्यवस्था ही है। फिर भी, सोवियत सघ की हाल की घटनाएँ यह सूचित करती हैं कि कृपि-सम्बन्धी उत्पादन और कृपि-क्षेत्रो (Farms) की व्यवस्था की विधियो में तालमेल बैठाने की आवश्यकता है।

यद्यपि द्वितीय पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक उत्पादन बढाने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाएगा, तथापि कृपि की ओर हमारा ध्यान—नयी प्रविधियो, भूमि-सरक्षण, भूमि की उर्वरता, कृपि के लिए नई भूमि की प्राप्ति के सम्बन्ध मे तनिक भी कम नही होना चाहिए। यदि हम चाहते हो कि हम प्रकृति के उतार-चढाव, जैसे अनिश्चित मानसून आदि से सुरक्षित रहे, तो हमे खाद्यान्नो का उत्पादन बढाना ही चाहिए।

इसके अतिरिक्त, हम जो भोजन करते हैं, उसमें पौष्टिक पदार्थों की भी न्यूनता रहती है। अत यदि हम अपने भोजन का स्तर उठाना चाहते हैं, उसे अधिक गुणकारी बनाना चाहते हैं, तो हमें अधिक परिमाण में फल और शाक-तरकारियो का, दूध और दूध-सम्बन्धी अन्य वस्तुओं का उत्पादन बढाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमें अपने पशुओ की नस्ल मे भी सुधार करना होगा और चारे की पैदावार भी बढानी होगी। दूसरी बात यह है कि उद्योग भी समृद्ध कृषि के बिना नही पनप सकते। हमको न केवल अपने उद्योगो को चलाने के लिए कच्चे माल की आवश्यकता है, वरन् उसका निर्यात करने के लिए भी।

कृषि-उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए हमे शीघ्रता से भूमि-सुधार करने होंगे। इन भूमि-सुधारो का उद्देश्य किसानो मे भूमि का न्यायपूर्ण बँटवारा होगा। हमारे यहाँ भूमि-सुधार हो तो रहे है, पर अभी उनकी गति धीमी है और उनमे एक हिचक दिखाई दे रही है। उनकी गति को तीव्र करना आवश्यक है। इससे गाँवो की आर्थिक स्थिति सुधरेगी, ग्रामीणों की क्रय-शक्ति बढ़ेगी और उद्योगो तथा कुटीर धन्धो के मालो को अच्छा बाजार मिलने लगेगा।

इस महान् साहसिक अभियान मे अनुसन्धान-विद्यापीठो के कार्य का बहुत अधिक महत्त्व है और उनकी बड़ी आवश्यकता है। हमको अपने वैज्ञानिक अन्वेषणो के निष्कर्षों से खेतो मे काम करने वाले किसानो को परिचित कराना है। हमारे किसान अनपढ हो सकते हैं, परन्तु वे मूढ नहीं हैं, बुद्धू नही हैं। वे नये सुधारो के प्रति सतर्क तो अवश्य रहते हैं, वे परपरावादी भी होते हैं, फिर भी वे नये विचारो का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं और साधारणतया उनका व्यवहार समझदारी और जिम्मेदारी का होता है। उनका परम्परागत विवेक तो प्रसिद्ध है ही।

ग्रामीण-क्षेत्रो का सन्तुलित विकास व्यवस्थित राष्ट्रीय उन्नति की आधार-शिला है। आर्थिक समृद्धि राष्ट्रीय जीवन को पुष्ट करती है। जीवन-स्तर समुचित रहने से हम बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रयासों मे निरन्तर लगे रहने के लिए अवकाश पा सकते हैं।

'व्यवसाय' शब्द का अर्थ ही है प्रयास, कठिन श्रम, उद्देश्य और दृढ

सकल्प। 'व्यवसायी' वह है जो स्फूर्ति और दृढ निश्चय के साथ कार्य करता है। प्रारम्भ से ही, कृषि मानवीय प्रयास का प्रतीक बन गई है। जब मनुष्य ने निष्क्रिय रहकर प्रकृति का भरोसा करना छोड दिया और उस पर नियत्रण करने लगा, तभी से सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। जब उसने अपना आहार एकत्र करने के स्थान पर उसे पैदा करना आरम्भ किया तब वह सामाजिक जीवन बिताने के लिए एक स्थान पर बस गया। हम न केवल भौतिक वातावरण पर नियत्रण कर सकते है, वरन् मानवीय वातावरण पर भी। हम केवल अपने खेतो मे ही कृषि नही कर सकते, वरन् अपने आन्तरिक जीवन मे भी कर सकते है।

हमारी सास्कृतिक परम्पराओ का आधार प्राकृतिक घटनाएँ रही हैं। प्रारम्भिक काल के मनुष्य ने प्रकृति को एक महान् व्यवस्थित पुनरा-वृत्ति-प्रधान प्रक्रिया के रूप मे देखा। मनुष्य और प्रकृति दोनो ही जन्म और मृत्यु के चक्र से गुजरते है। कठोपनिषद् मे कहा गया है—'**शस्य इव मर्त्यः पच्यते, शस्य इव जायते पुन**।' मर्त्य प्राणी धान्य की भाँति ही पकता है और उसी की तरह पुन उसका जन्म होता है। हम चीनी, बेबीलोनियाई, मिस्री, यूनानी, रोमन और अन्य सभ्य लोगो की परम्परा मे पाते हैं कि आकाश और पृथ्वी को इस विश्व के दो महान् सिद्धान्तो के रूप मे माना गया है—'द्यावा पृथिवी'। आकाश का देवता ऋतुओ पर नियत्रण करता है और पृथिवी की देवी मनुष्यो और पशुओ का पालन-पोषण करती है। सामाजिक वैज्ञानिक इस बात से सहमत है कि धर्म की मूल उत्पत्ति कृषि से हुई। हमारे फसल की कटाई के गीत, हमारे लोक-नृत्य और हमारे त्यौहार कृषि-सम्बन्धी घटनाओ के चारो ओर केन्द्रित होते है।

वस्तुगत घटनाएँ मनुष्य का सारा ध्यान अपनी ओर नही खीच पाती। उसके निर्णय और कार्य तर्क (मनीषा) एव अन्त करण द्वारा निर्देशित होते है। भौतिक वातावरण के दबाव के सामने उसका झुक जाना आवश्यक नही है। वह प्राकृतिक शक्तियो को मनचाहे ढग से मोड सकता है। जिस प्रकार उसने सिंचाई के साधनो का आविष्कार करके अनावृष्टि के सकट का सामना किया, बाँध बनाकर बाढो को रोका, मिट्टी की न्यूनताओ, कीडो से होने वाली हानियो, पौधो के रोगो का

वैज्ञानिक अध्ययन उन पर विजय प्राप्त करने के लिए और कृषि का उत्पादन बढ़ाने के लिए किया, इसी प्रकार वह अब भी बहुत-से उच्च-कोटि के रचनात्मक कार्य कर सकता है। इस उत्तेजक साहसिक अध्यावसाय में आपके विद्यापीठ को एक बड़ा भाग लेना है। मुझे भारतीय कृषि अनुसंधान विद्यापीठ (इंडियन ऐग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट) के रजत जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते हुए बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

भूदान से देश का नैतिक पुनरुद्भव*

मुझे यहा आकर और दिल्ली प्रान्तीय सर्वोदय-सम्मेलन का उद्घाटन करके प्रसन्नता हुई है। सर्वोदय का विचार बहुत व्यापक है। व्यक्तिगत जीवन मे सर्वोदय का अर्थ है व्यक्ति की सर्वतोमुखी जागृति और व्यक्ति का विकास। जब इसका प्रयोग समाज पर किया जाता है तब इसका अर्थ यह होता है कि सभी व्यक्तियो को भौतिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए समान अवसर सुलभ होने चाहिए। यह बात हमारे समाज पर ही नही लागू होती, वरन् विश्व-समाज पर भी लागू होती है। सर्वोदय का लक्ष्य है—सभी व्यक्तियो की प्रगति।

प्रौद्योगिक और आर्थिक विकासो के कारण ससार के लोग एक परिवार के सदस्य के रूप मे निकट आते जा रहे है। वे सब एक सिकुडते हुए भूमण्डल पर निवास कर रहे है। इस पीढी के मनुष्य का यह सौभाग्य है कि उसे इस विश्व-समाज की सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उसे अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा करना चाहिए। इतिहास मे प्रथम बार ससार की स्वतन्त्रता, सुरक्षा तथा शान्ति की सामूहिक व्यवस्था व्यवहारत सम्भव जान पडने लगी है और मनुष्य का चिरपोषित स्वप्न साकार होने जा रहा है। मनुष्य वस्तुओ मे परिवर्तन करने मे सफल

---

*विनोबा-जयन्ती, ११ सितम्बर, १९५५ को दिल्ली प्रान्तीय सर्वोदय सम्मेलन मे उद्घाटन भाषण।

हो गया है। यदि वह स्वय को परिवर्तित करने मे भी सफल हो जाय, तो हमे ऐसे नेता मिल सकते है जो आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक साधनो का समुचित प्रयोग करके नये संसार का निर्माण कर सकेगे। अपने आन्तरिक साधनो का सगठन करके हम अपने साथियो के साथ अपने सम्बन्धो को सुव्यवस्थित बना सकते है और एक ऐसे समाज का निर्माण कर सकते हैं जो अहिंसक होगा, जो शोषणहीन होगा।

राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् हमने सोचा था कि इसके प्रतिफल-स्वरूप राष्ट्रीय जागृति और राष्ट्रीय पुनर्जन्म भी होगे। हमने आशा की थी कि चतुर्मुखी उन्नति होगी। हम अपनी पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा लोगो के भौतिक मापको को ऊचा उठाने की चेष्टा कर रहे हैं। केवल वातावरण मे सुधार करना पर्याप्त नही है। जिसे हम प्रगति कहते हैं, वह आन्तरिक परिवर्तन के बिना कुछ नही है। अतिम रूप से तो, व्यक्तियो की चारित्रिक शक्तिया ही राष्ट्रो के प्रारब्ध का स्वरूप निर्धारित करती हैं। सामाजिक ससार मे हम जो झगड़े-झझट देख रहे हैं, वे हमारे आन्तरिक सघर्ष के ही बाह्य लक्षण हैं। हममे से प्रत्येक व्यक्ति हिंसा के लिए आतुर है, प्रभुत्व के लिए लालायित है। जो हमारे उद्देश्यो का विरोध करते हैं, उनसे हम घृणा करने लगते हैं। जो चीज हमारी इच्छाओ की पूर्ति मे बाधक होती है, वह हमको विक्षिप्त बना देती है। हम सभी मालिक बनना चाहते है। हम चाहते है कि कोई हमारे बराबर का न हो, कोई हमारा सहकर्मी न हो, बस सभी हमारे दास हो, अधीनस्थ हो। उच्च पदो पर आसीन व्यक्तियो के मन मे भी यही आन्तरिक सघर्ष चलता रहता है और जब यह ससार के रगमंच पर प्रकट होता है तब युद्धो को जन्म देता है। शासन करने की इच्छा तो भयकर है ही, परन्तु उससे भी भयकर एक दूसरी चीज है, और वह है दूसरो के प्रभुत्व के सामने घुटने टेक देने का लोभ। पटना, बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली मे, हाल ही मे जो उपद्रव हुए, उनसे पता चलता है कि हमारी आत्माए हिंसा के कितने समीप है। यदि हममे से कई लोग हिंसक कार्य करने से बचते हैं, तो इसका कारण है परिणामो का भय। हमारे जीवन कानूनी अधिक हैं, नैतिक कम। अभी हम इस बात को

हृदयंगम नही कर पाए हैं कि अभ्युदय और नि श्रेयस् का एकमात्र साधन अहिंसा ही है। यही मानवीय और नीतिशास्त्रीय अभिवृत्ति है। आतरिक सघर्ष की यह स्थिति ऐसी नही है, जिसकी कोई चिकित्सा न हो। प्रत्येक व्यक्ति को इनसे वचने का सकल्प अपने मन मे करना है। हमे अपने विरोधियो का आदर करना चाहिए और उनके तर्कों को सुनना चाहिए। हमे उन पर दुष्प्रयोजनो का आरोप नही लगाना चाहिए। महान् कार्य करके भी विनम्र रहना, अधिकार पाकर भी सुशील रहना, उच्च पदस्थ होकर भी कोमल हृदय होना, शक्ति पाकर भी उसके कारण रुक्ष न होना भारत मे भी भारी गुण माने जाते है। ईश्वर को भी अभिमान से अरुचि है और विनम्रता को वह भी प्यार करता है—'ईश्वरस्यापि अभिमान-द्वेपितवाद् दैन्यप्रियतवाच् च।'[१८]

भूदान-यज्ञ हममे जीवन के प्रति सही अभिवृत्ति उत्पन्न करता है। भूमि, श्रम और स्वय जीवन हमारे पास धरोहर-स्वरूप है तथा हमे उन का उपयोग 'जगद्हिताय कृष्णाय'—लोकहित के लिए ईश्वरार्पण करके करना चाहिए। आचार्य विनोवा भावे भूमि का पुनर्वितरण चाहते है। परन्तु इससे भी अधिक वे चाहते है लोगो मे प्रेम और सहयोग की भावना का प्रसार करना। वे चाहते है कि हम अपनी सम्पत्ति को अपने पास रखी हुई एक पवित्र धरोहर मान कर उसका उपयोग करें, अपने जीवन को आत्मदान के लिए स्वत स्फूर्त वनाये। उनके लिए प्रत्येक शब्द प्रार्थना है और प्रत्येक कार्य बलिदान। वे हमे थोडे मे भी सुखपूर्वक रहने की शिक्षा देते है।

हमसे वहुधा यह पूछा जाता है कि संसार को कौन आदोलित करते है, कौन युगधर्म का निर्धारण करते है—महान् व्यक्ति या महान् विचार? युग को अपने विचार अपने व्यक्तियो से प्राप्त होते है। विकास नेताओ पर निर्भर करता है। जब सरकारे वाह्य लक्षणो का उपचार करती है, तव नैतिक और आध्यात्मिक नेता कारणो का उपचार करते है। केवल सरकारी प्रयत्नो से हम मानव जाति के स्वभाव मे परिवर्तन नही कर

---

[१८]नारद भक्तिसूत्र, २७

सकते। आचार्य विनोबा भावे हमारे देश का नैतिक पुनरुद्भव करना चाहते हैं। वह हमको मानवीय चिन्तना के अन्तिम निष्कर्षों का स्मरण दिलाते है, वह नीतिशास्त्र की आधारभूत बातो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते है, वह बताते है कि घृणा से अच्छा है प्रेम, युद्ध से अच्छी है शान्ति, संघर्ष से अच्छा है सहयोग, बलप्रयोग से अच्छा है आग्रह, और हिंसा से अच्छी है शालीनता।

हम उनके कार्य की सफलता की कामना करते है और चाहते है कि यह शुभ दिन पुन-पुन आता रहे।

धर्म का जातिव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नही*

इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार करने के लिए आयोजित इस अध्ययन-गोष्ठी (सेमिनार) मे मैं विस्तार की बातो मे नही जाना चाहता, वह तो आप लोग करेगे ही। मैं तो यहाँ कुछ स्थूल सिद्धान्तो का सकेत ही करना चाहूगा जिनके आधार पर आप लोग अपनी चर्चाएँ चलाएँगे और निर्णय करेंगे। मुझे यह ज्ञात हुआ है कि आप लोग इन प्रश्नो पर "सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक, वैधानिक, राजनीतिक तथा कल्याण के दृष्टिकोण से" विचार करना चाहते हैं।

यह शुभ शकुन है कि यह अध्ययन-गोष्ठी विश्वविद्यालय के वायु-मण्डल मे आयोजित की गयी है। यहाँ अस्पष्ट अनुमानो, अधीर आलोचनाओ या रोषपूर्ण गाली-गलौचो से वचना सरल रहेगा। मुझे आशा है कि आप ठोस समाजशास्त्रीय ढग से विचार करेगे और सुविचारित परामर्श देगे, जिनसे आपके ही शब्दो मे 'एक निश्चित अवधि मे ही हम इन दोनो बुराइयो (जातिवाद तथा अस्पृश्यता) का सामना कर सकेगे और इन्हे निर्मूल कर देगे।'

पहली बात तो यह याद रखनी चाहिए कि धार्मिक सिद्धान्तो को सामाजिक सस्थाओ के साथ मिलाकर गडबड नही करनी चाहिए। धार्मिक सिद्धान्त आधारभूत और चिरस्थाई होते हैं, किन्तु सामाजिक संस्थाएँ

---

*जातिवाद और अस्पृश्यता-निवारण-सम्बन्धी अध्ययन-गोष्ठी (सेमिनार) मे उद्घाटन-भाषण—२६ सितम्बर, १९५५।

समय-समय पर बदलती रहती है। जब कभी सामाजिक संस्थाओ मे परिवर्तन करने की मॉग की जाती है, तभी यह चीख-पुकार उठने लगती है कि धर्म सकट मे है। यह झूठी हाय-तोबा है। सामाजिक सस्थाएँ किसी स्थान-विशेष की सामाजिक परिस्थिति-विशेष के अनुसार निर्मित होती हैं। खान-पान और विवाह सम्बन्धी सामाजिक नियम तो समय-समय पर बदलते रहते हैं। 'जीसस सोसाइटी' के रॉबर्ट डी नोबिली ने भारतीय ईसाइयो को अपने सामाजिक रीति-रिवाजो का पालन करते रहने की अनुमति दे दी थी। उन्होने हिन्दुओ को छूट दे दी थी कि यदि वे चाहे तो ईसाई धर्म मे आने के बाद भी अपनी शिखा और अपने यज्ञोपवीत रख सकते है। ऐसा करके उन्होने स्पष्ट कर दिया था कि व्यापक धार्मिक सत्यो और अस्थायी सामाजिक स्वरूपो मे अन्तर है। वे मदुरा मे इस रूप मे दिखाई दिए थे—साधु का गेरुआ वस्त्र उन्होने पहन रखा था, ललाट पर चन्दन का टीका लगा था और यज्ञोपवीत उनके शरीर पर था जिससे एक 'क्रॉस' लटक रहा था। डी नोबिली ने बतलाया कि वे रोमनिवासी एक ब्राह्मण हैं। धर्म और सामाजिक नियमो का अन्तर सीरियाई ईसाइयो ने भी अपने व्यवहार से स्पष्ट कर दिया था। उन्होने हिन्दुओ के कई रीति-रिवाजो को अपना लिया था जिनमे जाति-प्रथा और अस्पृश्यता भी थी। धर्म-परिवर्तन को निरुत्साहित किया गया और जो लोग नीची जातियो से ईसाई धर्म अगीकार करते थे, वे ईसाई बनने के बाद भी प्राय. जाति बहिष्कृत ही बने रहते थे। जैन, सिख, वीरशैव, ब्रह्मसमाजी और आर्यसमाजी जाति-भेद को नही मानते, किन्तु वे स्वय यहूदियो और पारसियो की तरह ही अलग जाति बन गए हैं।

हमारे सामाजिक व्यवहारो तथा रीति-रिवाजो के द्वारा धार्मिक सिद्धान्तो की सामाजिक अभिव्यक्ति होती है, और क्योकि हम उनकी झंझटो से भलीभाँति परिचित होते हैं, इसलिए धार्मिक नेता स्वयं सामाजिक परिवर्तन लाने की चेष्टा करते है। उपनिषदो के ऋषियो और बुद्ध से लेकर टैगोर और गान्धी तक, जितने भी धार्मिक नेता हुए हैं, वे उग्र सामाजिक परिवर्तनो के परिपोषक रहे हैं। अपने समय मे उनको लोग नास्तिक और उग्रपंथी समझते थे, परन्तु इनको कोई प्रतिगामी तथा

निहित-स्वार्थ व्यक्ति नही बतलाता था। जो सच्चे अर्थ मे धार्मिक मनुष्य होते हैं, वे सदाचार का उपदेश देते है और सामाजिक न्याय के अग्रदूत होते है।

धर्म किसी एक विशेष-सामाजिक व्यवस्था से बधा नही होता। वह प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था को उसके गुणो के आधार पर ही परखता है। जाति और अस्पृश्यता के नियमो के साथ जब हम धर्म को जोड देते हैं, तब इससे जान पडता है, कि ये कोई पवित्र प्रथाएँ है। 'महाभारत' मे धर्म की व्याख्या यह की गई है—"धारणात् धर्मं इति आहु धर्मेण विधृता प्रजा।" अर्थात् धर्म वह है जो समाज को सगठित रखे। यह स्पष्ट है कि अस्पृश्यता का व्यवहार समाज विरोधी है और धर्म के सिद्धान्तो का उल्लंघन करता है। राज्य ने छुआछूत के भेदभावो को अपराध घोषित करके अस्पृश्यता-निवारण का बीडा उठाया है। ये भेदभाव आधुनिक राजनीति की रुझानो या धार्मिक सिद्धान्तो के अनुकूल नही है। यह एक सामाजिक अपराध है और हम जितने शीघ्र इससे अपना पीछा छुडा लें, उतना ही हमारे देश के सुनाम तथा हमारी राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अच्छा रहेगा। समाज के अपेक्षाकृत निर्बल अगो को विशेष अवसर तथा सुविधाएँ प्रदान करके ही हम उनको आगे बढाने मे सहायता कर सकते है। इन पददलित लोगो का केवल भौतिक पुनर्वास कर देने से ही काम नही चलेगा, वरन् हमे मानवीय स्तर पर उनसे व्यवहार करना होगा और उनमे प्रतिष्ठा की भावना भरनी होगी। भावी पीढियो को भूतकाल की सडी-गली प्रथाओ का बोझ ढोने के लिए बाध्य नही किया जाना चाहिए। सभ्यता की कसौटी यही है कि वह अपने निर्बल सदस्यो के साथ कैसा व्यवहार करती है।

प्रारम्भिक ईस्वी शताब्दियो मे जाति-सम्बन्धी हमारे आचार-विचार अधिक लचीले थे, कम कठोर थे, और बाद मे उनकी परिभाषा जितनी सकीर्ण बन गई, उतनी सकीर्ण पहले न थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो का जो उल्लेख मिलता है, उससे यह पता चलता है कि हमारे इतिहास के गत्यात्मक काल मे अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। जब धर्म अपनी बहुत-सी आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक आदर्शवादिता को

खो चुका, तब जातिगत पूर्वाग्रहों का बोलबाला हो गया। जातिगत प्रतिबन्धों का कठोर होना और देश की पराधीनता—ये दोनों घटनाएँ साथ-साथ हुईं। यह दुर्भाग्य और खेद का विषय है कि देश के कई भागों में सार्वजनिक जीवन जाति-भावना के कारण भ्रष्ट हो गया है। इतिहास में भी एक तर्क-सम्मत क्रम होता है। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। सभवत अतीत की हमारी पराधीनता भी हमारे सामाजिक विभेदों का ही परिणाम थी। यदि हम गलत कारणों को दूर रखें, तो हम अपने भविष्य का निर्माण अब से अच्छी तरह कर सकते हैं। एक प्राचीन श्लोक में कहा है कि ब्राह्मण और शूद्र एक रक्त वाले भाई हैं।[1] हम सदा से उस व्यक्ति को आदर्श मानते आए हैं जो जाति-पाँति के भेदभाव से परे, वर्णातीत होता है। भगवद्गीता में कहा है कि "ईश्वर को वह व्यक्ति प्रिय है जिसमें अपनी कुलीनता का, अपने कार्य का या समाज में अपनी प्रतिष्ठा का अभिमान न हो।"[2] सन्यासी लोग जाति-बन्धन से मुक्त होते हैं। आधुनिक समाज में जातिगत भेदभाव को बनाए रखने का कोई आर्थिक, प्रजातीय या नैतिक औचित्य नहीं है। अखिल भारतीय सेवाओं के लिए उम्मीदवारों का चुनाव गुण (चरित्र) और कर्म (क्षमता) के आधार पर किया जाता है। किसी एक जाति या सम्प्रदाय का उन पर एकाधिकार नहीं है।

सामाजिक जीवन में किसी की श्रेष्ठता रहन-सहन के उच्चस्तर से और सादगी से जानी जाती है। भारत में त्याग के मूल्य पर अधिकार प्राप्त किया जाता है। यदि गान्धी जी को लोग राष्ट्रपिता मानते हैं, यदि विनोबा भावे के प्रति लाखों लोगों की श्रद्धा-भक्ति है, तो इसका कारण उनका वैश्य या ब्राह्मण जाति में जन्म लेना नहीं है, वरन् इसका कारण

---

१ अन्त्यजो विप्रजातिश्च एक एव सहोदर ।
एकयोनि प्रसूतश्च एकशाखेन जायते ॥

२. न यस्य जन्मकर्माभ्यां न वर्णाश्रमजातिभि ।
सज्जतेऽस्मिन् अहंभावो देहे वै स हरेः प्रिय ॥
(गीता, ११, २.५१)

है उनके जीवन की पवित्रता। श्रेष्ठतम व्यक्ति अपरिग्रह का व्रत लेकर चलते है। 'नारद भक्ति सूत्र' मे कहा है कि भक्तो मे जाति, विद्या, रूप, कुल, धन तथा व्यवसाय आदि के आधार पर कोई भेदभाव नही होना चाहिए।*

हम आज एक ऐसे समाज मे रह रहे है जो नवीन व्यवस्था की अपरिहार्य आवश्यकताओ के अनुरूप अपने को ढालता जा रहा है। हम समय की प्रगति को रोक नही सकते। यदि हम अतीत से चिपटे रहते है, यदि हम मृत परपराओ को गले लगाए रहते है, तो हम पिछड जाएँगे। भूलना भी उतना ही आवश्यक है, जितना याद रखना। यदि हम अत्यावश्यक को स्मरण और सुरक्षित रखना चाहते है तो हमको बहुत-सी चीजे भूल जानी चाहिए। जो समाज परिवर्तन का प्रतिरोध करते हे, उनमे गतिहीनता आ जाती है। यदि वे परिवर्तन के लिए प्रस्तुत रहे, तो वे समृद्ध हो जाते है। परिवर्तन के प्रति लोगो मे बहुधा स्नायविक भय पाया जाता है, किन्तु यह हमारी परम्परा के अनुकूल नही है। जीवन का सिद्धान्त है परिवर्तन। 'चरन् वै मधु विन्दति।' केवल गतिशील रहने से, आगे बढते रहने से हम जीवन मे माधुर्य ला सकते है। रचनात्मक प्रतिभा वाले व्यक्ति अपने पूर्वकाल से प्राप्त परम्परा को रूपान्तरित कर देते है। परम्परा कभी समाप्त नही होती, न उसका विकास कभी रुकता है। वह परिवर्तन के लिए प्रस्तुत रहती है और उसका निर्माण सदा जारी रहता है। अपने धर्म की आधारभूत बातो के प्रति निष्ठा रहने पर हम उग्र परिवर्तनो के लिए तैयार रहते है। हमे अपनी कथनी और करनी के बीच की खाई को पाटने की चेष्टा करनी चाहिए। लोग जिन सामाजिक कुरीतियो से पीडित है, उनको दूर करने के लिए समूचे राष्ट्र मे व्यापक प्रचार निरन्तर होना चाहिए। हमे समस्त मानवकृत असमानताओ तथा अन्यायो को दूर करके समाज को शुद्ध करना चाहिए और व्यक्तिगत कल्याण तथा सामाजिक विकास के लिए सबको समान अवसर प्रदान करने चाहिए। यह देख कर हमे आशा बँधती है कि हमारी जनता घोर

*'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि विभेद।' ७२

भाग्यवाद के चंगुल से छूट कर आत्मजागृति की ओर बढ रही है और अपने अधिकारों पर बल देने लगी है। जो चीजें मानवता का नाश करती हैं, उनके विरुद्ध मानवता को अवश्य दृढता के साथ अड जाना चाहिए। आइए, मनुष्यों की हित-रक्षा के लिए हम आशा करें, संघर्ष करें और पीडा भी सहन करें। राज्य देश के प्रत्येक व्यक्ति का सेवक है। आइए, हम ऐसे समाज की स्थापना करें जिसमें समाज के सभी सदस्यों को आर्थिक न्याय और प्रगति के लिए अवसर प्राप्त हो।

अनुशासनहीनता के लिए छात्र उत्तरदायी नही*

मुझे यहाँ आने और आपसे दो शब्द कहने का अवसर देने के लिए मैं आप सबका धन्यवाद करता हू। दीक्षान्त-भाषणकर्त्ता से आशा की जाती है कि वह छात्रो को कुछ परामर्श देगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ छात्रो को किसी का परामर्श देना अच्छा नही लगता। छात्रो की तो बात ही और है, यहाँ तक कि प्रौढो को भी किसी का परामर्श नही सुहाता।

स्नातक बन जाना एक मंजिल की समाप्ति और दूसरी मजिल का प्रारम्भ है। इस वर्ष जिन छात्रो को स्नातक की उपाधि मिली है, उनको उनके भावी, उपयोगी, सुखी और समृद्ध जीवन के लिए मै अपनी शुभ-कामनाएँ देता हूँ। वे हमारे देश के इतिहास के एक बहुत महत्त्वपूर्ण काल मे जीवन-प्रवेश कर रहे है। आठ वर्ष पूर्व हमको स्वाधीनता प्राप्त हुई थी। वह स्वाधीनता केवल राजनीतिक थी। अब कोई बाह्य सत्ता हमे इस या उस प्रकार का व्यवहार करने के लिए विवश नही कर सकती, अब तो जो कुछ करना है, हमे स्वेच्छा से, स्वय की प्रेरणा से करना है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व, जब कभी कोई बात गडबड होती थी तब हमारे पास एक बहाना था कि 'यह सब विदेशी शासन के कारण है।' वह बहाना अब नही रहा। जैसा कि भगवान बुद्ध ने कहा है—'अपने दु ख के कारण

* गुजरात विश्वविद्यालय मे दीक्षान्त-भाषण—८ अक्तूबर, १९५५।

हम स्वयं हैं। कोई अन्य हमको बाध्य नहीं करता।' आज हम जैसा चाहें, अपने देश के भविष्य का स्वरूप निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र हैं। यदि हम उस भविष्य का स्वरूप-निर्धारण, ज्ञान, दूरदर्शिता और साहस के साथ करें, तो हमारा भविष्य महान् हो सकता है। मैं छात्रों को बताना चाहूँगा कि यहाँ रहते हुए उन्होंने जो कुछ सीखा है, जिन बौद्धिक स्वभावों और नैतिक चरित्र का अर्जन किया है, वे उनके भावी जीवन के लिए लाभदायक रहेंगे और जीवन में प्रवेश करने पर, वे (छात्र) अपने देश के उत्थान में प्रभावपूर्ण योगदान कर सकेंगे।

इस विश्वविद्यालय ने अब तक जो प्रगति की है, उसके लिए मैं इसे बधाई देना चाहता हूँ। मुझे बताया गया है कि गत वर्ष विश्वविद्यालय ने दो नये विभाग—गुजराती भाषा और साहित्य तथा सामाजिक विज्ञान के खोले। सामाजिक विज्ञानों के विषय में लोगों में कुछ भ्रान्त धारणा है, उसे मैं दूर करना चाहूँगा। कई लोग ऐसा सोचते हैं कि जिस तरह भौतिक विज्ञान पार्थिव प्रकृति पर हमारा नियन्त्रण स्थापित कर देता है, उसी तरह सामाजिक विज्ञान मानव-प्रकृति को हमारे नियन्त्रण में ला देते हैं। एक प्रमुख शिक्षाशास्त्री लार्ड बेवेरिज का कथन था—"जिस प्रकार हम प्राकृतिक विज्ञानों के द्वारा भौतिक जगत् पर नियन्त्रण करते हैं, उसी प्रकार अब से हम सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन करके मानव-प्रकृति पर नियन्त्रण करने में समर्थ हो सकेंगे।" यह सर्वांश में सही नहीं है। गत वर्ष लार्ड ऐड्रियन ने भी आक्सफोर्ड में 'ब्रिटिश विज्ञान परिषद्' में भाषण करते हुए कहा था—"हम ऐसे समय में आ पहुँचे हैं जब एक बटन दबाते ही हम संसार के दो-तिहाई भाग को मटियामेट कर सकते हैं, परन्तु यदि हम मानव-व्यवहार को समझते हों, तो हम उस भारी आपत्ति को रोक सकते हैं।" केवल मानवीय व्यवहार को, मनुष्य जिस ढंग से समाज में कार्य करता है, केवल उसको समझना पर्याप्त नहीं है। इस संसार में ऐसे लोग भी हो गए हैं जिन्होंने विज्ञान के अस्त्रों और मनोविज्ञान की प्रविधियों (टेकनीकों) का उपयोग करके, मनुष्यों की लोलुपता को आधिपत्य शक्ति की, विनाश और आतंककारी प्रवृत्तियों के रूप में संगठित कर दिया।

आज भूगोल, इतिहास, विज्ञान और प्रौद्योगिकी (टेक्नोलाजी) की

शक्तियाँ ससार को अन्योन्याश्रित बना रही है। वे समस्त संसार को एक साथ जोड रही है। दो महान् केन्द्रो मे आणविक शक्ति का एकत्रीभूत हो जाना हमारे लिए एक चुनौती बन गया है। या तो हम जीवन का वरण करे, या मृत्यु का। हमको या तो साथ-साथ जीना है, या साथ-साथ मरना है। सामाजिक विज्ञान यदि हमे कुछ वताते है, तो यही। यह हमारे व्यवहार पर निर्भर करता है। किन्तु सामाजिक विज्ञान मनुष्य को उसके सिद्धान्तो, लक्ष्यो और उद्देश्यो के विषय मे कोई जानकारी नही देते। यदि हम अपने भौतिक और सामाजिक ज्ञान का प्रयोग मानवता के पुनरुद्भव के निमित्त करना चाहते हो, तो उसके लिए सामाजिक विज्ञान स्वयमेव पर्याप्त नही है। वे हमे कुछ साधन सुझा सकते है, परन्तु उन साधनो का मनुष्य चाहे तो अच्छा उपयोग करे, चाहे बुरा उपयोग। अतः केवल ज्ञानार्जन की अपेक्षा मनुष्य के आत्म-कल्प की अधिक आवश्यकता है। साख्यिकी, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान—ये सभी आनुभविक विज्ञान है। वे हमे तथ्यो का ज्ञान कराते हे, वे हमे कुछ सिद्धान्तो की जानकारी देते है, वे हमे बतलाते है कि अमुक परिस्थिति का सामना होने पर मनुष्य कैसे व्यवहार करेगे। किन्तु सामाजिक विज्ञान हमे यह नही बतलाते कि मनुष्यो को कैसा व्यवहार करना चाहिए, उनको कैसी अभिवृत्ति अपनानी चाहिए, किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, अपने ऊपर कैसा आत्म-नियत्रण स्थापित करना चाहिए। जब हम इस विश्वविद्यालय मे सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन के लिए एक विभाग खोल चुके है, तो हमे यह समझ लेना चाहिए कि सामाजिक विज्ञानो के साथ-साथ हमे सामाजिक दर्शन, सामाजिक शीलाचार (Ethics) का भी अध्ययन करना उचित है। यही वे अनुशासन है जिनकी हमको आवश्यकता है।

सामाजिक विज्ञानो के सम्बन्ध मे एक अन्य आपत्ति है। जिस क्षण हम 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते है, उसी क्षण हम सोच लेते है कि समाज कतिपय नियमो के अनुसार कार्य करता है, कुछ लक्षण पहले से ही लक्षित हो सकते हैं, और समाज को कुछ सिद्धान्तो के अनुरूप ढाल लेना हमारे लिए सम्भव है। इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टि से देखनेवालो का यह विचार

है कि द्वन्द्वात्मक घटना-चक्र जैसी चीज़ भी होती है। उदाहरण के लिए, स्पेंगलर (Spengler) कहता है कि "सस्कृतिया जीवधारी है और विश्व-सस्कृति एक सामूहिक जीवनी है, जन्म, वृद्धि, आयु, ह्रास, अपक्षय और मृत्यु—ये सारी घटनाए सामाजिक सस्थाओं पर भी लागू होती है।" इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम पुन वही भूल कर रहे है जिससे वह पुरानी समस्या उठ खडी होती है कि इतिहास मनुष्य का निर्माणकर्ता है, या मनुष्य इतिहास का। हमारा उत्तर इसके विषय मे यह रहा है—'राजा कालस्य कारणम्'। हमने सदा कहा है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति ही क्रान्तियो की चिनगारी सुलगाते है, इतिहास की धारा को बदल डालते है। वे नये युगो का श्रीगणेश करते है। व्यक्ति ही समाज को अपने साचे मे ढाल लेते है। यूरोप के एक बडे इतिहासकार एच० ए० एल० फिशर ने कुछ वर्ष पहले कहा था—"मैं इतिहास मे कोई पूर्वनिश्चित योजना, कोई प्रतिकृति, कोई तालबद्धता नही पाता।" उनका कहना था कि इतिहास के निर्माण मे आकस्मिक, अदृष्ट, अकल्पनीय और असम्भावित तत्वो एव शक्तियो का हाथ रहता है। उनका आशय था कि मनुष्य से सम्बन्धित बाते ही इतिहास का पथ निर्धारित करती है। हमे यह नही सोचना चाहिए कि घटनाए मनुष्य पर हावी हो जाती है और मनुष्य क्षुद्र, दुर्बल प्राणी की तरह ससार की शक्तियो से पार नही पा सकता। हमारा जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण नही रहा है। हमने तो सदा इस बात मे विश्वास किया है कि प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति इतिहास की धारा को अपने अनुकूल मोड सकते है। हम समाज के ढाचे को फिर से गढ सकते है, हम अपने सामाजिक बनावट और सगठनो को नये ढग से पुनर्निमित कर सकते है। इस नगर (अहमदाबाद) मे, जिसमे गाधी जी का संपर्क रह चुका है, मैं इस बात के अधिक विस्तार मे नही जाना चाहता कि जहा तक ऐतिहासिक प्रगति का प्रश्न है, व्यक्ति का महत्त्व बहुत अधिक है। लोग इतिहास के बाहर रह सकते है, किन्तु सासारिक कार्यो के प्रति अपनी वैराग्य-वृत्ति के कारण ही वे वस्तुतः इतिहास का निर्माण करते है। अतः यह कहने मे कोई तुक नही है कि 'हम कर ही क्या सकते है; परिस्थितियो का भार हमारे लिए असह्य हो उठता है, और इसीलिए हम इनके सामने

घुटने टेक देते है।' इतिहास मे अपरिहार्यता जैसी कोई वात नही। इतिहास की घटनाओ को रोका जा सकता है। समाज की पुनर्रचना मे मानवीय शक्तियो का वडा हाथ रहता है। हमारे छात्रो को मनुष्य की स्वतत्र आत्मा मे आस्था लेकर यहा से जाना चाहिए। वे यह विश्वास लेकर यहा से जाये कि वे चाहे तो प्रतिदिन अपना पुनर्निर्माण कर सकते है। प्रतिदिन हम अपने स्वभाव को अव से अच्छा या बुरा वना रहे है। हम अपने को सतत पुनर्निर्मित कर रहे है। यदि हम सभावनाओ को वास्तविकताओ मे परिवर्तित करना चाहते हैं, तो आत्मा की इस स्वतत्रता, मानव प्राणियो की आत्मिकता को व्यवहृत करने की आवश्यकता है। जैसा कि मैंने प्रारम्भ मे ही आपसे कहा था, हमे आशा है कि हम अपनी राजनीतिक स्वतत्रता को सामाजिक, सास्कृतिक एव आर्थिक अर्थ मे सच्ची स्वतत्रता का रूप दे सकते हैं। हम केवल हाथ जोडकर चुपचाप वैठे रहे, तो यह परिवर्तन नही ला सकते। यह कार्य तो हम अपने मस्तिष्को से, अपने हाथो से, अपने वलिदान से और कष्ट-सहन से ही कर सकते है। इन्ही साधनो के द्वारा हम अपनी अभिलाषाओ को वास्तविकताओ मे और सभावनाओ को यथार्थताओ मे वदल सकते है। विश्वविद्यालयो से यह आशा की जाती है कि वे अपने यहा युवको और युवतियो को केवल जानकारी, ज्ञान और कौशल मे ही निपुण नही करेंगे, वरन् उनमे आत्म-त्याग और विराग (Detachment) की भावना भी भरेंगे। इस महान् देश के इतिहास के पुनर्निर्माण के अत्यन्त विशाल कार्य के लिए उनमे इन गुणो का होना अत्यावश्यक है।

मैं आशा करता हू कि आपके विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त करके निकले हुए युवक और युवतिया केवल विद्वान् ही नही होते, उनके जीवन का कुछ उद्देश्य भी होता है, उनमे दूरदर्शिता भी होती है। विश्वविद्यालय केवल विद्याध्ययन के स्थान नही होते, वे संस्कृति के आवास भी होते है। वे पुरुषो और स्त्रियो के निर्माण-केन्द्र है। मनुष्य-निर्माण का कार्य आज हमारे देश मे विश्वविद्यालयो को सौंप दिया गया है। क्या हम ऐसे व्यक्तियो को तैयार कर रहे है, ऐसो को प्रशिक्षण देकर भेज रहे हैं जो तोते की तरह कतिपय गद्याशो या पद्याशो को दोहरा सकते है अथवा,

हम उनकी अनुभूतियो को परिष्कृत कर रहे है, उनके उद्देश्यो को सभ्य बना रहे है, प्रकृति और समाज—दोनो के प्रति उनकी जानकारी को परिपक्व कर रहे है ? किसी विश्वविद्यालय का कार्य अच्छा है या बुरा, इसको परखने की सबसे उत्तम कसौटी यही है। और यदि हम इस उद्देश्य को पूरा नही कर पा रहे, तो असफलता के लिए हम उत्तरदायी है।

अभी-अभी कुलपति महोदय ने देश के कुछ भागो मे छात्रो मे व्याप्त रोष की चर्चा की है। मैं अपने जीवन मे चालीस वर्षो से भी अधिक समय तक अध्यापक रहा हू। मै आपको बताना चाहता हू कि हमारे छात्रो मे कोई मौलिक त्रुटि नही है। मैं आपसे कहना चाहता हू कि हम उनको वे अवसर नही दे रहे, जो उनको मिलने चाहिए। तनिक हमारे अध्यापको की ही ओर देखिए जिस अध्यापक को अपने विषय मे रुचि न हो, तथा जो अपने उत्साह को अपने छात्रो मे सक्रमित न कर सके, उसको हम सच्चा अध्यापक कैसे कह सकते है ? इसमे सन्देह नही कि अध्यापको के अभावो को दूर करना चाहिए। परन्तु हम ऐसे अध्यापको का क्या करें जो किसी दल, या जाति या सम्प्रदाय के सदस्य पहले है और अध्यापक बाद मे, जो इन सकीर्ण विचारो से ऊपर उठकर समस्त समाज का हित नही देख सकते। हमको अपने बालको और बालिकाओ को इस महान् देश के नागरिक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। यह अत्यावश्यक है कि किसी विश्वविद्यालय या महाविद्यालय के अध्यापको का चुनाव करते समय अधिकतम सतर्कता बरती जाए। उनका चुनाव केवल उनकी बौद्धिक योग्यता के आधार पर न किया जाए, वरन् उनके चुनाव का आधार यह हो कि अपने विषयो के प्रति उनमे कितना प्रेम है, छात्रों को अपने संरक्षण मे लेकर उनका विकास करने का कितना उत्साह उनमे है। ये बातें बहुत आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि कक्षाओ मे छात्रों की सख्या बहुत होती है। जिस कक्षा मे लगभग १५० व्यक्तियों के बैठने का स्थान हो सकता है, उसको ५०० व्यक्तियो के बैठने के योग्य समझ लिया जाता है। अनुशासनहीनता के अतिरिक्त और कौन-सी चीज है जिसे हम ऐसी कक्षाओ मे प्रोत्साहित करते है ? जितनी जगह मे केवल १५० छात्र अट

सकते है, उसमे कितनी भी भीडभाड करके हम ५०० छात्रो को कैसे अटा सकते है ? यह असम्भव है। फिर, पाठ्येतर प्रवृत्तियो की क्या व्यवस्था है ? अधिकाश महाविद्यालयो मे, जिनमे छात्रो की अधिक भीडभाड रहती है, अध्यापक तो कम होते है और उनके अन्तर्गत छात्र बहुत-से ऐसे स्वतत्र, कलात्मक भावनात्मक, या बौद्धिक कार्य-कलाप भी नही संयोजित होते जिनमे छात्र अपनी अभिव्यक्ति के अवसर पा सके। दूसरे शब्दो मे कहे, तो जब तक व्यक्ति के पूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त होने का क्षेत्र नही मिलता, तब तक हमारे महाविद्यालय या विश्वविद्यालय व्यर्थ सिद्ध होगे। मुझे ज्ञात है कि कुछ घटनाए ऐसी हुई है जिनसे लडको के नैतिक और आध्यात्मिक अध पतन का पता चलता है। यदि हम अपने देश के भविष्य को संकट मे नही डालना चाहते, तो सबसे पहले हमारा ध्यान शिक्षा की ओर जाना चाहिए। जिन व्यक्तियो को हम शिक्षा दे रहे है, यदि वही ओछे और क्षुद्र मन वाले निकले, तो हम देश के आर्थिक जीवन के पुनर्वास के लिए चाहे जितने विशालकाय बाघ बना डाले, सब निरर्थक रहेगे। जब तक लोग स्वय विशाल-हृदय वाले नही हो जाते, उनकी बुद्धि प्रखर नही हो जाती, उनके मन सस्कृत नही होते, तब तक वे उन सभी सुविधाओ तथा सुखो का सम्यक् उपयोग नही कर सकते, जिनको हम उपभोग के लिए उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। जब तक हम अपने मन मे परिवर्तन नही करते, तब तक वातावरण मे परिवर्तन लाने से लाभ ही क्या ? हमे अपने को बदल डालना चाहिए, और यदि हमको अपने को बदलना है, तो हमे परिवर्तन की इस प्रक्रिया को पहले उन सस्थाओ से प्रारम्भ करना है जो विद्यार्थियो की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। इसलिए केन्द्रीय और राज्य सरकारो को अब इस ओर अधिक ध्यान देना है कि कॉलेजो मे छात्रो के प्रवेश पर कुछ प्रतिबन्ध हो, उनमे पर्याप्त सख्या मे अध्यापको की नियुक्ति हो, और अध्यापक तथा विद्यार्थियो के मध्य जीवित सपर्क स्थापित हो। अध्यापक के साथ आमने-सामने एक मेज पर बैठकर वार्तालाप करना जितना लाभदायक हो सकता है, उतना बहुत दिनो का अध्ययन भी नही। साज-सामान और अध्यापको की न्यूनता के शिकार आज के कॉलेजो मे क्या अध्यापको और छात्रो के बीच उस प्रकार के

सपर्क के अवसर है ? जब तक हम इस स्थिति मे सुधार नही करते, तब तक यह कहने से क्या लाभ है कि विद्यार्थियो मे बदमजगी है, उनमे अनुशासनहीनता है, या कि विश्वविद्यालयो का स्तर गिरता जा रहा है ? मै चाहता हू कि युवको के साथ निष्पक्ष और न्यायोचित व्यवहार हो। यह हमारे लिए अत्यावश्यक है और सरकार के लिए भी कि जहा तक हमारे देश के शैक्षणिक पुनर्निर्माण का सम्बन्ध है, उसमे आमूलचूल नवीकरण किया जाए और मुझे आशा है कि जो लोग सरकार मे है, जो लोग देश को प्रशासित कर रहे है, वे इन बातो पर विचार करेंगे।

राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन विधिवत् परसो तक प्रकाशित हो जाएगा, यद्यपि उसका बहुत-सा अंश पहले ही प्रकाशित हो चुका है। उससे जान पडता है कि कुछ उच्च स्थानो मे अनुशासन का अभाव है। जो हो, हमारे राज्यो की सीमाए फिर से निर्धारित होने जा रही है। यह सब करते हुए हमे यह स्मरण रखना है कि यह देश शताब्दियो तक एक देश रहा है। जब चीनी यात्री यहा पधारे थे, तब वे देश के सभी भागो मे, उत्तर मे भी और दक्षिण मे भी गये थे। जब हमारे यहा के लोग हमारी सस्कृति के प्रतिनिधि बनकर चीन गये, तब वे देश के किसी एक भाग से नही गये थे। वे देश के विभिन्न भागो से बौद्ध धर्म या शैवमत का सन्देश प्रसारित करने के लिए गये थे। अत उन पूर्व शताब्दियो से लेकर जबकि हमारा 'महाभारत' अग, बग, कलिग, काश्मीर आदि की बातें कहता है और शकराचार्य तक जब उन्होने अपने चार मठो को देश के चारो कोनो मे स्थापित किया, एक ही बात पर सब बल देते आ रहे है और वह है—इस महान् देश की एकता। राज्यो के पुनर्गठन मे यदि कुछ मतभेद हो जाएं या सीमाओ मे हेर-फेर हो, तो भी हमे कोई ऐसा काम नही करना चाहिए जो हमारे इस महान् देश की एकता के विरुद्ध जाता हो। हमारे इतिहास मे जब कभी हम पर आपत्ति आई है, तो उसका यही कारण रहा है कि हम प्रान्तीय, जातीय तथा साम्प्रदायिक मतभेदो को बढा-चढाकर दिखाने लगे थे, और जब कभी हमने सफलता प्राप्त की, तब उसका कारण यह रहा कि हमने ऐसे मतभेदो की उपेक्षा की और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हम कन्धे से कन्धा भिडाकर खडे हो गये। एकता का अर्थ है शक्ति

ओर प्रगति । भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद इत्यादि का अर्थ होगा हमारी शक्तियो का बिखर जाना और हमारे देश का अध पतन ।

इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि हम इस महान् तथ्य को कभी न भूले कि हम चाहे जिस प्रान्त के निवासी हो, उन प्रान्तो मे परस्पर चाहे जो मतभेद हो, हम सभी इस महान् देश के सपूत है जो अधिकाश पूर्वीय कला एव सस्कृति के लिए उत्तरदायी रहा है । पूर्वीय देशो मे गया था शैवमत, गया था बौद्धमत । शिव जो 'महायोगी' है और बुद्ध जो करुणा के महावतार है— ये दोनो हमारे लिए धर्म के सार-तत्त्व के प्रतीक है ।

अपनी जागरूकता को गभीर बनाओ, अपने प्रेम का विस्तार करो । 'अभय' का अर्थ है भय से मुक्ति, 'अहिंसा' का अर्थ है घृणा से मुक्ति । इनमे से प्रथम तो सच्चे धर्म का अन्त पक्ष है और द्वितीय, उसका बहिर्पक्ष । शेष सब बाते तो ऊपरी कसीदाकारी, दिखावटी सजावट है । धर्म के आवश्यक तत्त्वो से इनका कोई सम्बन्ध नही है । यदि हम अपने विचारो मे कुत्सा, लोभ, ईर्ष्या, हिंसा, प्रभुत्व की भावना और अभिमान को स्थान देते है, तो हम धार्मिक मनुष्य नही है । दूसरी ओर, यदि हम अपने मन और विचार को इन प्रेरणाओ से मुक्त रखते है, यदि हम सदा उदारता और प्रेम का व्यवहार करते है, तो हममे सच्चे धर्म की भावना है ।

हम भारतीय कहते है कि सभी विश्वविद्यालयो का एक महत्वपूर्ण प्रयोजन है— व्यक्ति और समाज का एकीकरण । उपनिषद् मे भी यह प्रश्न उठाया गया था 'तपस क्या है ?' इसके विभिन्न उत्तर दिये गये । अन्तत एक ने कहा—'स्वाध्याय प्रवचन तपस है' । 'स्वाध्याय' से तात्पर्य है—अध्ययन, मनन, अन्वेषण और ज्ञान की प्रगति, 'प्रवचन' का तात्पर्य है—ज्ञान का बोध कराना, दूसरो तक ज्ञान को सप्रेपित करना । हमे ज्ञान मे वृद्धि करनी चाहिए और दूसरो को उसका बोध भी कराना चाहिए । इन समस्त शताब्दियो मे ज्ञानार्जन के प्रति प्रेम हमारी बहुमूल्य सपत्ति रहा है । आइए, हम इस सपत्ति को हाथ से न जाने दे ।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः'*

पहले जो भाषण हुए है, उनसे स्पष्ट है कि यह स्कूल कल्याणकारी राज्य (welfare state) की धारणा की व्याख्या विस्तृत और मानवीय रीति से करता है। कल्याण से केवल भौतिक या पार्थिव कल्याण का अर्थ लेना ठीक नही है। एक महान् अर्थशास्त्री अल्फ्रेड मॉर्शल ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'[1] के प्रथम अध्याय मे कहा है—"विश्व इतिहास की निर्माणकर्त्री शक्तिया दो रही है—धार्मिक और आर्थिक। यत्र-तत्र सैनिक शक्ति की उग्रता या कलात्मक भावना का प्राधान्य भले रहा हो, परन्तु किसी भी समय धार्मिक और आर्थिक प्रभाव प्रथम श्रेणी से घटकर नही रहा। यदि सभी अन्य तत्वो के प्रभावो को एकत्रीभूत कर दिया जाय, तो भी इनका प्रभाव उनसे बढ-चढकर सिद्ध होता है।" धार्मिक और आर्थिक शक्तियो का विच्छेद समाज के लिए बहुत अहितकर हुआ है। हमारे समाज की रुग्णता, इसकी अशान्ति का मूल कारण हमारी आत्मा मे विद्यमान है। जब मानवीय हृदय मे द्वन्द्वो का उच्छृंखल नृत्य होने लगता है, तब उनका प्रतिबिम्ब बाह्य ससार के द्वन्द्वो मे भी दिखाई देता है। यदि मनुष्य की आत्मा मे शान्ति आ जाय, तो मनुष्य के बीच होने वाले बाह्य द्वन्द्व भी समाप्त हो जाय। इस

* 'दिल्ली स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स' मे उद्घाटन-भाषण—१८ जनवरी, १९५९।

१ Principles of Economics.

स्कूल की स्थापना किसी यशोलिप्सा से नही हुई है, इसकी स्थापना के मूल मे है यह गभीर आस्था कि अर्थशास्त्र के अध्ययन और अनुसधान पर विवेक का नियत्रण होना चाहिए। जो लोग इस स्कूल मे कार्य करते है, उनसे आशा की जाती है कि वे एक सामाजिक दूरदर्शिता, सामाजिक जागरूकता और सामाजिक उद्देश्य से ओतप्रोत होकर कार्य करेगे।

हमको अपने देशवासियो की साम्पत्तिक स्थिति को उन्नत करने के लिए कार्य करना चाहिए। धन और दरिद्रता की आत्यन्तिकता के कारण हमारे समाज का चेहरा कुरूप हो गया है। एक ओर तो अत्यधिक समृद्धि है और दूसरी ओर अत्यधिक अभाव। सत्ता तो कुछ लोगो को ही भ्रष्ट करती है, किन्तु दरिद्रता लाखो-करोडो लोगो को भ्रष्ट कर देती है। यदि दरिद्रता समाज की वर्तमान व्यवस्था को चुनौती देती है, तो इसका कारण यह नही है कि दरिद्र लोग ईर्ष्यालु हो गये है, या लोभी बन गये है, या उनमे प्रतिकार की भावना भर गयी है, वरन् कारण यह है कि वे अत्यन्त अभावग्रस्त है, अन्यन्त असहाय हैं, और वे अनुभव करने लगे है कि वर्तमान वैषम्यपूर्ण स्थितिया अपरिहार्य नही है, उनका कोई परिहार करना चाहे, तो कर सकता है। समाज एक पूर्ण ईकाई है। यदि इसका एक भाग दूसरे भाग का शोषण करे, तो पूरा समाज उसका कुफल भुगतता है। यदि हम एक हाथ से दूसरे हाथ को आघात पहुचावें, तो अन्तत कष्ट तो व्यक्ति को ही होता है। यही कारण है कि यदि हमारे लोकतत्र को अपनी रक्षा करनी है, तो उसको समाजवादी बन जाना चाहिए। यदि लोकतान्त्रिक व्यवस्था कुछ ही वर्षो मे हमारी सामान्य जनता के आर्थिक स्तरो को ऊंचा नही उठा सकी, तो उसका भविष्य सकटापन्न हो जाएगा।

समाजवाद के लक्ष्य तक पहुचने के कोई वैधानिक उपाय नही है। हम किसी भी विचार-पद्धति के वन्दी नही है। हम किसी भी सैद्धान्तिक विचार से निरोधित नही है। इसी स्कूल की वात लीजिए। यह डॉ० राव की सूझ, शक्ति, अध्यवसाय, सार्वजनिक सेवा-भावना, भावावेग का वल और मन की शक्ति का परिणाम है, यद्यपि इस सस्था को सरकारी सहायता मिलती है, तथापि यह सरकार के नियत्रण मे नही है। इसीलिए

यह स्वतन्त्र अनुसधान करने और सरकार को सुयोग्य परामर्श देने की स्थिति मे है। यह सरकार की आलोचना भी निर्भय होकर कर सकती है। हम यह दावा नही करते कि हमारी सरकार कोई गलत काम नही कर सकती। भले ही वह जानते-समझते हुए या जान बूझकर गलती न करे, परन्तु सरकारे भी तो मनुष्यो की ही बनायी सस्थाएँ हैं, अतः उनसे भूल हो जाना स्वाभाविक है। हम चाहते है कि स्वतंत्र, सत्यप्रिय, शान्त तथा रचनात्मक ढंग से सरकारो की आलोचना की जाय ताकि वे पथभ्रष्ट न हो।

आज का समारोह इस स्कूल की प्रगति की एक दूसरी स्थिति का सूचक है। किसी स्कूल की प्रतिष्ठा उसके भवनो, उसकी साज-सज्जा पर निर्भर नही करती, आवश्यक तो ये भी हैं, परन्तु प्रतिष्ठा तो बढती है उसके सदस्यो के ठोस कार्य के बल पर। हमे अपने कार्य की परख उच्चतम शैक्षणिक मापदण्डो से करनी चाहिए। मुझे आशा है कि इस स्कूल के सदस्य इतने उच्च तत्वावधान मे परिश्रम से कार्य करेंगे, सत्यनिष्ठा से कार्य करेगे, अपने कार्य मे आनन्द और गर्व अनुभव करेंगे और अपने देश की आर्थिक विचारणा, योजना तथा प्रगति मे सहायता करेंगे।

शिक्षित ही नही, सुसंस्कृत भी बनें*

मुझे यहा आकर प्रसन्नता हुई है। भारत सरकार और 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की महायता से विश्व-विश्वविद्यालय-सेवा' द्वारा निर्मित इस स्वास्थ्य-केन्द्र का उद्घाटन करते हुए भी मुझे हर्ष हो रहा है। 'विश्व-विश्वविद्यालय-सेवा' इस विश्वविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) और अन्य विश्वविद्यालयो मे जो बहुत से उपयोगी कार्य कर रही है, इस केन्द्र की स्थापना भी उनमे से एक कार्य है।

'विश्व-विश्वविद्यालय-सेवा' छोटे रूप मे सही परन्तु महत्त्वपूर्ण ढग से मानव जाति की वृद्धिगत एकता को प्रकट करती है। विश्वविद्यालय की शाब्दिक परिभाषा यह है कि जो विश्वव्यापी दृष्टिकोण रखे। विश्वविद्यालय के लिए किसी भी देश या राष्ट्र का मनुष्य पराया नही होता। इसका कार्य है एक विश्व-समाज का विकास करना। यह 'सेवा' ससार के विभिन्न भागो के लोगो को परस्पर एक-दूसरे को समझने मे सहायता करती है।

इस देश मे जहा भौगोलिक और भाषायी विविधता है, एक राष्ट्रीय समाज को सगठित करने वाले तत्त्वो को सर्वमान्य आदर्शों के प्रति आदर और स्नेह की भावना रखनी चाहिए। समाज भूत, वर्तमान और भविष्य के सहयोग से निर्मित होता है। भारत जैसे विशाल भौगोलिक क्षेत्र वाले

* विश्व-विश्वविद्यालय-सेवा स्वास्थ्य-केन्द्र (वर्ल्ड-यूनिवर्सिटी-सर्विस हेल्थ सेंटर)' मे उद्घाटन भाषण—३० जनवरी, १९५६।

देश मे भिन्नता का होना स्वाभाविक है, किन्तु यदि हमे ससार मे कुछ प्रगति करनी है, तो हमे इस भिन्नता को राष्ट्रीय एकता के नीचे दबा देना होगा। यहा, दिल्ली विश्वविद्यालय मे देश के विभिन्न भागो के शिक्षक और छात्र एकत्र किये जाते है; यहा आकर वे एक-दूसरे को जानने-समझने लगते हैं और उनमे एक विस्तृत राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हो जाता है।

जो लोग इस विश्वविद्यालय मे कार्य करते हैं, उनको केवल विद्यार्जन ही नही करना चाहिए, वरन् अपने को सस्कृत भी बनाना चाहिए। उनमे आत्मा की वह परिष्कृति' आ जानी चाहिए जिसे हम 'आत्मसस्कृति कहते है। इस परिष्कार के कारण हम लोभ, अहकार की आसुरी शक्तियो पर विजय प्राप्त कर लेते है और हम ऐसी जीवन-पद्धति, आचरण का ऐसा मापक निर्धारित कर लेते है जिसके कारण हम समाज के अन्य सदस्यो के हितो का भी ध्यान रखने लगते हैं।

आज महात्मा गान्धी की आठवी बलिदान-वर्षगाठ है। आज के दिन हमे अतर्मुखी होकर अपने हृदयो को टटोलना चाहिए। हममे से कईयो की सस्कृति तो छिछली और दिखावटी होती है, पहले ही झटके मे उसकी नकाब उतर जाती है और हमारी कठोरता, क्रूरता एवं दूसरो के प्रति हमारी सवेदनहीनता अपने नग्न रूप मे प्रकट हो जाती है। किसी तथाकथित अन्याय के कारण हम जो कुछ कर बैठते है, उसको न्यायोचित सिद्ध करने की चेष्टा करते है, हम अपनी बुद्धि को अपनी वासना की सेविका या साधिका बना डालते हैं। मतभेदो को दूर करने का सबसे अच्छा ढग है धैर्यपूर्वक बातचीत चलाना और शान्तिपूर्ण समझौता करना। इनको त्यागकर हिंसा का आश्रय लेना तो कायरतापूर्ण कार्य है। जब हम ससार से आग्रह करते है कि राष्ट्रो के बीच के झगड़ो का निपटारा शान्तिपूर्ण रीति से किया जाना चाहिए, तब यदि हम अपने अधिकारो को मनवाने के लिए हिंसात्मक रीतियो का सहारा लें, तो ससार हमे पाखण्डी, मिथ्याचारी कहकर हमारा उपहास करेगा।

वह यही कहेगा—

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।

जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।।'

'तुम कहते कुछ हो, और करते कुछ हो।' और यदि ऐसी दशा मे हमे इस तरह की कटूक्तिया सुननी पडें, तो हमे आश्चर्य नही करना चाहिए।

यह अत्यावश्यक है कि हम अपने हृदयो को टटोले, मन की उस सकीर्णता को खोज निकाले जिससे हमारी एकता को सकट पैदा हो गया है, जिससे हमारा दृष्टि-क्षितिज संकुचित हो गया है और जो हमारी प्रगति के मार्ग मे रोडे अटका रही है। हममे से प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय और आत्मा की एकान्तता मे यह पता लगाना चाहिए कि उसमे क्या कमिया है, वह कहा गलती कर रहा है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य से परे के कार्यों मे हमे आज जुट जाना है। अपने जीवन के शीघ्रता से समाप्त होते हुए वर्षों को हमे इस देश और ससार के कल्याण के लिए अर्पित कर देना चाहिए। हमे एक ऐसे राष्ट्र के निर्माण मे शक्ति और निष्ठा से पिल पडना चाहिए जो क्षुद्र मनुष्यो के छल-प्रपचो से अभेद्य होगा। मैं आशा करता हू कि जो लोग इस विश्वविद्यालय मे अध्ययन करते है और जो लोग इस 'विश्व-विश्वविद्यालय-सेवा' के सदस्य है, वे अपने दृष्टिकोण को विस्तृत और अपने हृदय को उदार बनाएंगे तथा हमारे सम्मुख जो समस्याएँ है उनका सामना साहस, शक्ति और धैर्य से करेगे।

संसदीय लोकतंत्र*

श्री जी० वी० मावलंकर के गभीर रूप से बीमार पड जाने के कारण आज मुझे अध्यक्ष के आसन पर बैठना पड रहा है। उनको संसदीय व्यवहारो और प्रक्रियाओ का काफी लम्बा और विस्तृत अनुभव रहा है। यदि वे यहाँ उपस्थित होते, तो उन्होने आपका प्रभावपूर्ण ढग से मार्ग-प्रदर्शन किया होता।

हम लोगो के लिए यह अच्छा रहेगा कि हम कभी-कभी सक्रिय राजनीति की उखाड-पछाड से अपने को नि सग करके राजनीति के आधारभूत तत्वो, आदर्शों और ससदीय लोकतंत्र के सिद्धान्तो के विषय मे विचार-विनिमय कर लिया करे। यद्यपि हमारे यहाँ के संसदीय व्यवहार ब्रिटिश लोक सभा (हाउस ऑफ कामन्स) के व्यवहारो के आधार पर निर्मित है, तथापि हम अपनी विशेष परिस्थितियो के कारण अपनी कुछ परम्पराओं का विकास कर रहे है।

आप अपनी इस गोष्ठी मे विचार करने जा रहे है कि विधान सभाओ मे राजनीतिक दलो का क्या कार्य और स्थान होना चाहिए, ससद (पार्लियामेण्ट) का सरकार और जनता मे क्या सम्बन्ध होना चाहिए। इसके साथ ही, आप मन्त्रिमडलीय सरकार (कैबिनेट गवर्नमेण्ट) और राज्य सभा तथा विधान-परिषदो, जिन्हे द्वितीय सभा कह सकते हैं, की स्थिति पर भी विचार करेंगे। मुझे आशा है कि आपकी इस चर्चा का कुछ

*२५ फरवरी, १९५६—ससदीय अध्ययन-मण्डल मे भाषण।

अच्छा परिणाम निकलेगा।

लोकतन्त्र का अंग्रेजी पर्याय 'डेमोक्रेसी' शब्द दो यूनानी शब्दो से मिलकर बना है जिनका अर्थ है—जनता और शक्ति। इसका शाब्दिक अर्थ हुआ जनता का शासन। हम लोकतन्त्र को विभिन्न दृष्टिकोणो से देख सकते है यह जीवन की एक पद्धति है, प्रशासन का एक स्वरूप है, सामाजिक और आर्थिक विकास का एक साधन है और समस्याओ के समाधान की यह भी एक विधि है। इन कई रूपो मे लोकतन्त्र को समझने और परखने की चेष्टा की जा सकती है। मैं लोकतन्त्र के इन कई स्वरूपो मे से प्रत्येक पर कुछ सामान्य बाते कहने की आपसे अनुमति चाहता हूँ।

(१)

एक हिब्रू पैगम्बर ने कहा था—"जहाँ के लोगो मे कल्पना नही होती, जिनके कोई स्वप्न नही होते, वहाँ के लोगो का नाश हो जाता है।"[१]

लोकतन्त्र हमको एक स्वप्न, एक कल्पना प्रदान करता है, वह हमे जीवन की एक पद्धति देता है, वह हमसे माँग करता है कि हम व्यवहार के कुछ आदर्श, कुछ प्रतिमान या मापक निश्चित कर लें। हमारे सविधान की प्रस्तावना और उसके चौथे खड मे जो उद्देश्य और कर्त्तव्य निर्धारित किये गए हैं उनसे हमको मार्ग-दर्शन मिल सकता है।

व्यक्ति की प्रतिष्ठा, मानवीय व्यक्तित्व की पवित्रता लोकतन्त्र का बुनियादी सिद्धान्त है। आजकल लोगो मे यह प्रवृत्ति है कि वे व्यक्ति को विश्व-शक्तियो का, जो अपने निश्चित लक्ष्य की ओर कदम बढाती जा रही है, एक विवश शिकार समझते हैं। ससार आज गुमनाम बनता जा

---

१ आगस्टीन ने अपने 'सिटी ऑफ गॉड्स' (देवताओ का नगर) मे कहा है—"कोई राष्ट्र विवेकशील लोगो का ऐसा सघ होता है जो अपनी मनोवांछित वस्तुओ को शान्तिपूर्वक प्राप्त करने के लिए सगठित हो जाते हैं। इसलिए किसी राष्ट्र की विशेषता का निश्चय करने के लिए आपको पहले यह विचार करना चाहिए कि वे वस्तुएँ क्या हैं।"

रहा है और व्यक्ति उसमे खोता जा रहा है। किन्तु जीवन तो व्यक्ति को लेकर ही है। सत्य भी व्यक्ति के मानस मे ही उद्भासित होता है। व्यक्ति ही सीखता है या कष्ट झेलता है, वही आनन्द और शोक का अनुभव करता है, क्षमा और घृणा का पात्र भी व्यक्ति ही होता है। ससार की इस समस्त प्रगति का श्रेय उन व्यक्तियो को दिया जा सकता है कि जिन्होने अपने जीवन मे आराम नही जाना, जो एक नई देन देने के लिए सतत व्याकुल रहे। मानवता के परित्यक्त, अपराधी और बहिष्कृत व्यक्तियो मे भी उनकी अपनी आत्मा, उनका अपना व्यक्तित्व होता है। राज्य का काम यह देखना है कि मनुष्य द्वारा मनुष्य की प्रतिष्ठा का प्रकाश मनुष्य की आँखो मे कही मन्द न पड जाय। जॉन मेसफील्ड एक मर्मस्पर्शी कविता मे, जिसमे दूर देशो मे स्थित एक एकाकी व्यक्ति द्वारा सकुच-भरा आत्म-प्रोत्साहन देने की बात है, लिखते हैं—

"मैंने देखा है·
　　पथरीली धरती मे फूल खिला करता है,
मैंने देखा है :
　　व्यक्ति असुन्दर सब पर दया किया करता है,
मैंने देखा है·
　　घुडदौड़ो मे बुरा अश्व विजयी रहता है,
इसीलिए तो—
　　मेरे मन मे भी विश्वास जगा रहता है।"*

आत्मा के लिए जितनी स्वतत्रता आवश्यक है, यदि उसके साथ हम समझौता करते है, तो हमारी अन्य सारी स्वाधीनताएँ समाप्त हो जाएँगी।

'कम्युनिस्ट-घोषणा पत्र' (Communist manifesto) मे कार्ल

---

* "I have seen flowers come in stoney places;
And kindness done by men with ugly faces,
And the gold cup won by the worst horse at the races;
So I trust too"

—John Masefield.

मार्क्स को पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध यह शिकायत है कि यह व्यवस्था 'अनगिनत बहुसख्यको को केवल मशीन की तरह काम करना सिखलाती है।' उनका कथन है कि सर्वहारा वर्ग की मनुष्यता का यह विनाश कर डालती है। लोकतत्र के चिर अभीप्सित अधिकारो मे से एक अधिकार यह भी है कि व्यक्ति को अपने ढग से रहने और अपनी आत्मा का विकास करने की स्वतत्रता रहे।

आपस्तव ऋषि का कथन है कि "आत्मलाभान् न पर विद्यते। आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्।"[१] आत्मा के लिए तो ससार तक को त्यागा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति सारे ससार को प्राप्त कर ले, किन्तु अपनी आत्मा को ही खो बैठे, तो उसको लाभ ही क्या होगा?

इन दिनो मे, जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ऐतिहासिक नियतिवाद (Determinism) को फैशन की चीज़ बना दिया है, जब महान् पुरुषो को निर्वैयक्तिक शक्तियो का दास या साधन बताया जा रहा है, तब इतिहास मे व्यक्ति के अश-दान पर बल प्रदान करना एक अच्छी बात है। एच० ए० एल० फिसर ने कहा था—"इतिहासकारो के लिए एक ही निरापद नियम है कि हम मनुष्य के प्रारब्ध के विकास मे आकस्मिक और अदृष्ट शक्ति का हाथ समझ लें।" यूनानी गणितज्ञ यूक्लिड की रेखा-गणित मे किसी भी नियम का प्रदर्शन अपरिहार्य है, परन्तु मानवीय कार्यो मे यह बात लागू नही होती। इतिहास के निर्माण मे मनुष्य का वास्तव मे बहुत हाथ है। 'राजा कालस्य कारणम्'। जबकि हम घोर नियतिपथी होने को भी ठीक नही समझते, तब हम यह भी नही मानते कि अपने अतीत से पूर्णतया विच्छिन्न होकर मनुष्य, मनुष्य रह सकता है। मनुष्य के ऐच्छिक चुनाव की गुजाइश चाहे जितनी थोडी हो, पर वह है अवश्य। हम भाग्य के हाथो के खिलौने नही है। जन-समुदाय मे अपने निजत्व को विलीन कर देने से हम बाह्य शक्तियो की आधीनता से नही मुक्त हो सकते, वरन् हम मुक्त हो सकते है विचार, अनुभूति और कल्पना की स्वतन्त्रता का उपयोग करके, आगे कदम उठाने की प्रेरणा वातावरण से

---

१. धर्मसूत्र, प्रथम, ७, २

न ग्रहण कर अपने अंतःकरण से प्राप्त करके। यदि हम आज पहले की अपेक्षा अच्छे कपड़े पहन पा रहे हैं, अच्छा भोजन कर रहे हैं और अच्छे मकानों में रह रहे हैं; यदि हम दरिद्रता और अप्रतिष्ठा से अपने को किसी अंश में छुड़ा सके हैं, तो इसका कारण यह है कि मनुष्य ने अपनी आत्मा को स्वतंत्र रखने और अपनी सूझ-बूझ के अनुसार आगे कदम बढ़ाने की चेष्टा की है। मानव-प्रगति का समस्त इतिहास उन पैगम्बरों और बहादुरों, उन कवियों और कलाकारों, उन अग्रगामियों और अन्वेषकों के जीवन को केन्द्र बनाकर चला है जिन्होंने सत्य, शिवं और सुन्दर को भली प्रकार समझने के पश्चात् उनको क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व भी वहन किया है, जिन्होंने अपने प्राणों के लिए संकट उपस्थित होने पर भी, जो विचार कर लिया सो कहा, जो निर्णय कर लिया सो किया, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे अपनी आत्मा को प्रवंचित करेंगे।[१] व्यक्ति के प्रति सम्मान लोकतान्त्रिक समाज का नैतिक आधार है। इस प्रकार के समाज में न तो किसी को दास होना चाहिए और न किसी को स्वामी।

एक शताब्दी से पूर्व, संयुक्त राज्य अमेरिका के विषय में लिखते हुए टोकेविल (Tocqueville) ने कहा है—"हम लोगों के समय तक यह माना जाता था कि स्वेच्छाचारी शासन (Despotism), चाहे वह किसी भी रूप में हो, घृणास्पद वस्तु है। यह तो आधुनिक शोध है कि यदि जनता के नाम पर प्रयोग किया जाय, तो निरंकुशता भी वैध हो जाती है और अन्याय भी पवित्र मान लिया जाता है।" वह आगे कहता है—"मुझे ऐसा कोई देश नहीं मालूम, जिसमें मन की सच्ची स्वतंत्रता और विचार-विनिमय की स्वाधीनता इतनी कम हो, जितनी अमेरिका में है।...यदि वर्तमान समय में अमेरिका में महान् लेखकों का अभाव है, तो इसका कारण यह है—विचार-स्वातन्त्र्य के बिना कोई प्रतिभाशील लेखक उत्पन्न

---

१. तुलना कीजिए—लैटिमर ने रिड्ले से कहा था—"मिस्टर रिड्ले, निश्चित रहो, ईश्वर की कृपा से आज के दिन हम इंगलण्ड में ऐसा दीप जलाएंगे, जो, मुझे विश्वास है, कभी नहीं बुझ पाएगा।"

नही हो सकता, और अमेरिका मे विचार-स्वातन्त्र्य है नही।"

(२)

'जनवाक्यम् तु कर्त्तव्यम् नरैरपि नराधिपै।' जनता के वाक्य को पूरा करना जनता और शासको—दोनो का कर्त्तव्य है। प्रश्न है कि जनता क्या चाहती है, इस बात का निश्चय कैसे हो ? केवल चीख-पुकार या नारेबाजी तो जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व नही कर सकती।

जनता क्या चाहती है, इसका निश्चय करने और इसको अभिव्यक्त करने का सबसे अच्छा ढग ससदीय लोकतत्र ही जान पडता है। लोकतंत्र जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो के द्वारा चलाया जाने वाला शासन-तत्र है। आधुनिक राज्यो मे यह सम्भव नही रह गया है कि शासन प्रत्यक्षत जनता के द्वारा चलाया जा सके, यहाँ तक कि ग्राम-पचायते तक प्रतिनिधि-पद्धति को ही अपनाती है। लोकतत्र जनता को संविधान मे सशोधन और परिवर्तन करने का अधिकार देता है। जब तक सविधान है, जब तक वह जनता के प्रतिनिधियो द्वारा बदल नही दिया जाता, तब तक उसका पालन करना सबके लिए अनिवार्य है, सब उसको मानने के लिए बाधित है। ससद के सदस्य, चाहे वे जिस राजनीतिक दल से सम्बन्धित हो, जब तक एक समान धरातल को स्वीकार नही कर लेते, तब तक ससद का कार्य आगे नही बढ सकता। ससदीय लोकतत्र मे सरकारो को शान्तिपूर्ण ढग से बदला जा सकता है। समय-समय पर जो निर्वाचन होते है, उनसे यह सकेत मिलता है कि जनता को अपने प्रतिनिधियो को हटाने का अधिकार प्राप्त है।

हमने सबके लिए वयस्क मताधिकार का नियम स्वीकार किया है। इसका तकाजा है कि सबको शिक्षा की सुविधा दी जाय। यह होने पर ही, मतदाता राष्ट्रीय उद्देश्य और कर्त्तव्य को समझ सकेगे और अपने मत का प्रयोग स्वार्थपूर्ण उद्देश्यो के लिए न करके सार्वजनिक हित के लिए करेगे। यद्यपि हमारे मतदाता यथानियम शिक्षित नही है, तथापि उनमे सामान्य ज्ञान है और सत्य एव न्याय से उनको स्वभावतः प्रेम है।

कभी-कभी जनता प्रचारवादियो (प्रोपेगैन्डिस्ट्स), नये गढे हुए आदर्शो के विक्रेताओ, वर्ग-हितो, या जाति-निष्ठाओ के द्वारा प्रलोभन

पाकर सत्य तथा न्याय के पथ से विचलित हो जाती है। हुल्लड़बाज भीड के मनोविज्ञान का अनुचित लाभ उठाकर लोगो को बहका लिया जाता है, उनको परेशान किया जाता है, तरह-तरह के दबाव उन पर डाले जाते हैं, घूम दिया जाता है और विभिन्न समूहो के अन्तर्गत अपने को मानने के लिए उनको सम्मोहित-सा कर दिया जाता है। तात्पर्य यह कि उनके साथ साम-दाम-दण्ड-भेद—सभी प्रकार के हथकण्डो का प्रयोग किया जाता है। जब चतुर और शिक्षित राष्ट्र तक चुपचाप अधिनायकवाद के सामने घुटने टेक चुके है तब इससे तो यही पता चलता है कि लोग कितनी सरलता से अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का परित्याग कर देते है।

यदि जनता से यह आशा की जाती है कि सामाजिक तथा आर्थिक मामलो मे उसके विचार ठोस होने चाहिएं, तो उसको सही सूचनाएँ प्राप्त होनी चाहिए और प्रश्न के सभी पहलुओ को जानने-सुनने का उसे अवसर मिलना चाहिए। सूचना के साधनो पर स्वार्थपूर्ण हितो का नियन्त्रण नही होना चाहिए। जनता को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता मिलनी चाहिए। सर्वग्राह्यराज्यवादी (टोटॅलिटेरियन) समाज मे शासनारूढ दल सूचना, सवादवहन और मनोरंजन के सभी साधनो पर नियत्रण करके जनता के विचारो को एक साँचे मे ढालने की चेष्टा करता है। सब विरोधियो का मुह बन्द कर दिया जाता है। जनता केवल वही सुन पाती है जिसे सरकार उसको सुनाना चाहती है। ससद् का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक असन्तोष को दबावे नही, वरन् उसको अभिव्यक्त करें। सच्चे लोकतत्र मे, जिस विचार से हम घृणा करते हैं, उसको भी हमे तब तक सहन करना पड़ता है जब तक हमारा स्वय का विचार इतना समर्थ नही हो जाता कि वह उस विपक्षी विचार से लोहा ले सके। भयावह विचारो को प्रश्रय देने मात्र को हमे पाप नही समझ लेना चाहिए। नास्तिक बहुधा अपने प्रयास मे असफल हुए है। दक्षिणी फ्रान्स मे अल्बिगेन्सियनो के विरुद्ध जो धर्म-युद्ध (crusades) किया गया था वह उतना ही बर्बरतापूर्ण था जितना नाजियो द्वारा यहूदियो की निर्मम हत्या। जिन अपराधियो ने हिंसा का पाप किया हो, केवल उन पर ही नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। लोग जो कुछ सोचते है, वह उनका निजी मामला है,

किन्तु वे जो कुछ करते है, उससे जनता का सम्वन्ध हो जाता है।

संसद् राज्य और जनता के वीच सम्पर्क-सूत्र का कार्य करती है। यही वह स्थान है जहाँ हम वातावरण को समझते और उसका निर्माण करते हैं। नेतागण लोकमत का केवल अनुगमन ही नही करते, वरन् उसका नेतृत्व भी करते है। वर्क ने जनता को सम्वोधित करते हुए अपनी इन प्रसिद्ध पंक्तियो मे कहा है--"आपका प्रतिनिधि आपके लिए अध्यवसाय ही नही करता, वल्कि आपके प्रति न्याय-बुद्धि भी रखता है। यदि आपकी सम्मति के आगे वह अपने निर्णय, अपने विवेक का वलिदान कर देता हैं, तो वह आपकी सेवा करने के स्थान पर आपके साथ प्रवञ्चना करता है।" यदि हम इस तर्क के आधार पर कि हमे तो जनता का वोट जीतने से मतलव है, लोकमत को केवल प्रतिविम्बित करते हैं, तो ससद मे आकर हम जो कुछ कहेगे, वह सव ओछी, अनर्गल और सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने वाली वाते होगी। इस सम्वन्ध मे हमे जो सोचना है, वह यह कि हम कोई लोकप्रिय कार्य न करे, वल्कि वही करें जो सचमुच ठीक हो। अधिकाश मे तो यही होगा कि यदि हम कोई गलत काम करेंगे तो अपनी लोकप्रियता खो देंगे। जनता की ओर से पडनेवाला भयकर दवाव राजनीतिज्ञो को राजनीतिक साहस के कार्य करने से हतोत्साहित कर देता हैं।

ससद के सदस्यो का चुनाव बहुत सावधानी से होना चाहिए और जव वे निर्वाचित हो कर आ जायँ, तव उनको ससदीय व्यवहार का प्रशिक्षण आपकी 'व्यूरो ऑफ पार्लियमेण्टरी स्टडीज' (ससदीय अध्ययन-मण्डल) जैसी सस्था के द्वारा दिया जाना चाहिए। जनता के प्रतिनिधि को सविधान की अच्छी जानकारी होनी चाहिए, क्योकि वही जनता और सरकार के वीच का समझौता है, अनुवन्ध है। सविवान के निर्देशक सिद्धान्तो का उसे भली प्रकार ज्ञान होना चाहिए, क्योकि वे ही सिद्धान्त हमारे राष्ट्रीय धर्म या राष्ट्रीय सदाचार के मूलाधार है जिनसे जनता के धर्म-निरपेक्ष और आध्यात्मिक हित पूरे होते हैं तथा जिनसे जनता के अभ्युदय और नि श्रेयस् दोनो सधते हैं।

हमने राजाओ के दैवी अधिकार-सम्वन्वी सिद्धान्त का जनाजा

निकाल दिया है, यहाँ तक कि निर्वाचित प्रतिनिधियो के बहुमत से बनी हुई सरकारे तक कोई दैवी अधिकार नही रखती। लोकतान्त्रिक सरकार अर्थात् बहुमत के आधार पर संगठित सरकार कभी-कभी बहुत गम्भीर बुराइयो मे फँस सकती है। लॉर्ड ऐक्टन का कथन था—"......जनता की कही जाने वाली सरकार चूंकि देश की अधिकाश जनता और सबसे शक्तिशाली वर्ग की सरकार होती है, इसलिए वह भी उसी प्रकार बुरी चीज है, जिस प्रकार सर्वप्रभुत्तासम्पन्न राजतन्त्र। दोनो एक ही कांटे की वस्तुएँ हैं। और लगभग इन्ही कारणो से जनता की सरकार के पास ऐसी सस्थाएँ होनी चाहिएँ जो उसको उसकी ही बुराइयो से बचा सकें और जो मनमानी विचार-क्रातियो की आँधियो के सामने कानून के स्थायी शासन को प्रतिष्ठापित रख सके।" हमको सोचने-विचारने और अपने विचारो को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, तभी लोक-तन्त्र सबल बन सकता है। और इसके लिए हमे अल्पसख्यको के विचारो का सम्मान करना आना चाहिए। सच्चे लोकतंत्र मे सदा ही एक विरोधी पक्ष होता है। भले ही वह सख्या की दृष्टि से शक्तिशाली न हो, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उसमे राजनीतिक बुद्धि का भी अभाव है। विरोधी पक्ष समझौतो पर भले ही अपना दबाव न डाल सके, लेकिन वह सरकार के विचारो पर तो दबाव डालता ही है। अधिकार के मद मे मतवाली होकर जब सरकारे अपने विरोधी पक्ष का दमन करने लगती हैं तभी लोकतन्त्र के लिए खतरा उपस्थित होता है। बुद्ध, सुकरात, ईसा मसीह तो प्रतीक-मात्र हैं। राज्य उनके मुह पर ताला लगा सकता है, किन्तु उनके भीतर जो आग प्रज्ज्वलित हो रही होती है, उसको वह किसी प्रकार नही बुझा सकता। सुकरात और ईसा और बहुत से अन्य व्यक्ति अपने समय के 'शीत युद्ध' मे 'सुरक्षा के लिए सकट' समझे जाकर चुप कर दिए गए थे। सदियो के निरकुश शासनो और धार्मिक मतवादो पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब पाते हैं केवल 'क्रॉस', आग की धू-धू करती हुई चिताएँ, तप्त तैल के कडाह, यातना-कक्ष और नजरबन्दी शिविर (कान्सेन्ट्रेशन कैम्प)। हम भारतवासियो ने बुद्ध को या अन्य सनातन-धर्म-विरोधियों को मारने या समाप्त करने की चेष्टा नही की। हमारी

यह परम्परा रही है कि हमने कभी जनता को न तो एक मत का अनुयायी बनाने की चेष्टा की है और न ऐसे लोगो को शहीद बनाया है जो प्रचलित विचारा-धारा का विरोध करने का साहस कर चुके है। हमने सदा से विचार-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन किया है और प्रगति का यही मार्ग है भी। लोगो के इस सोचने मे कि हम कभी गलती कर ही नही सकते और हम सदा सही है, ससार की प्रगति की राह मे सबसे अधिक कॉटे बिछाये हैं, ससार का सबसे अधिक सहार किया है। यदि हम रूढिवादी विचारो से भिन्न विचार रखनेवालो का दमन करते है और मनुष्य की अन्तरात्मा को तुच्छ समझते है, उसके साथ खिलवाड करते है, तो हम अपने को लोकतान्त्रिक कहने के अधिकारी नही है। हम अपने से भिन्न विचार रखने वालो के साथ कैसा व्यवहार करते है, हमारे लोकतन्त्र की यही कसौटी होगी।

केवल इस बात से कि बहुसख्यक जनता ने अपना वोट देकर किसी सरकार को पदासीन कर दिया है, कोई सरकार लोकतान्त्रिक नही हो जाती। यह भी लोकतान्त्रिकता नही है कि हम जनता से केवल एक ही पार्टी के लिए वोट देने को कहे। लोकतन्त्र की कसौटी यह है कि वह अपनी प्रजा को लोकतान्त्रिक अधिकार दे पाता है या नही, वह अपने विरोधियो को भी विचार रखने की, भाषण देने की और सगठन बनाने की स्वतन्त्रता देता है या नही। यदि किसी राजनीतिक दल के बाहर उसके प्रतिद्वन्द्वी न हो और भीतर विचार-वैभिन्न्य न हो, तो चाहे भले ही मतदाताओ ने उसे अपना मत देकर सत्तारूढ कर दिया हो, किन्तु वह लोकतान्त्रिक नहीं कहा जा सकता।

हमारे सविधान का तृतीय खण्ड, जिसमे हमारे बुनियादी अधिकारो का वर्णन है, हमे कई प्रकार के अधिकार और नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता है। सरकार ने नागरिको की रक्षा के लिए इन अधिकारो के रूप मे कुछ प्रतिबन्ध अपने ऊपर लगा दिये है। चूकि सरकारे भी इन अधिकारो का हरण नही कर सकती, इसलिए हम अत्याचारो से सुरक्षित रह जाते है। यदि न्यायपूर्ण अधिनियमो से स्वतन्त्रता का नियमन किया जाता रहे, तो राजनीति मे इससे बढकर दूसरी कल्याणप्रद

बात नही है। यदि सभी व्यक्तियो को ये अधिकार प्राप्त है, तो उन पर यह कर्त्तव्यभार भी है कि वे दूसरो के अधिकारो का आदर करे। हमारा अधिकार वही समाप्त हो जाता है जहाँ वह दूसरो के अधिकारो मे हस्तक्षेप करने लगता है। उदाहरण के लिए, वाणी-स्वातन्त्र्य का जहाँ तक प्रश्न है, किसी सभा के श्रोताओ को यही अधिकार नही दिया जा सकता, क्योंकि इससे दूसरो के अधिकारो मे हस्तक्षेप होता है।

लोकतन्त्र का अर्थ है शक्ति का वितरण, विकेन्द्रीकरण। स्वतन्त्र न्यायाधिकरण, अकेक्षण (ऑडिट) और लोक सेवा आयोग आदि सरकारो के स्वेच्छाचारी और अत्याचारी बनने पर अंकुश लगाते हैं। इन सस्थाओ को प्रशासकीय अधिकारियो के हस्तक्षेप या राजनीतिक दबाव से बचाना चाहिए। केवल यही एक रास्ता है जिससे सार्वजनिक जीवन के प्रतिमान विकसित किए जा सकते है, क्योकि अच्छे से अच्छे व्यक्ति भी अधिकाराधिक्य से निष्ठुर और असहिष्णु बन जाते है। अत्याचार स्वभाव ही नही, रोग तक बन जाता है। शक्ति का केन्द्रीकरण नही होना चाहिए।

अरस्तू का कथन है कि समाज का लक्ष्य है सद्जीवन की उन्नति करना, न कि किसी राजा या नवाब की महत्ता को बढाना। स्वेच्छाचारी शासन मे सदा यह खतरा रहता है कि शासक के मन मे कब क्या आ जाय और वह कब क्या कर बैठे, ऐसी परिस्थितियो मे सद्जीवन असम्भव हो जाता है। अतः कानून के द्वारा अधिकार पर लगाम लगी होनी चाहिए। अरस्तू लिखता है—"जो व्यक्ति कानून का शासन प्रचलित करता है, वह मानो कहता है कि ईश्वर और विवेक का ही शासन चल सकता है, किन्तु जो व्यक्ति मनुष्यो का शासन प्रचलित करता है, वह शासन के साथ पशु-तत्त्व को और जोड देता है।" चूकि कोई भी आदमी अनियन्त्रित अधिकार के उपयुक्त नही है, इसलिए यह सामान्य समझ की बात है कि कानून का शासन होना आवश्यक है। सिसेरो इस बात पर बल देता है कि सरकार केवल अनियन्त्रित सत्ता का ही नाम नही है। "समाज एक ऐसी भीड को नही कहते जो भानुमती के कुनबे की तरह किसी प्रकार एकत्र हो गयी हो।" वह कहता है कि समाज "एक ऐसा

प्रजामण्डल है जो कानून को स्वीकार करने और उससे मिलने वाले व्यावहारिक लाभो के समान उपभोग के कारण परस्पर सगठित हो गया है। राजनीतिक शक्ति तभी उचित कही जा सकती है जब वह सबका समान रूप से हित करे, जब वह मानव-धर्म की प्रतिष्ठा करें। स्वेच्छाचारी निरकुश शासक शक्ति के द्वारा शासन करता है, किन्तु ससद (पार्लियामेण्ट) कानून के अनुसार शासन करती है। महान् राजनीतिक विचारक एडमण्ड बर्क ने कहा था—"जो लोग स्वेच्छाचारी शक्ति किसी को सौपते है और जो ऐसी शक्ति ग्रहण करता है, दोनो ही समान रूप से अपराधी है। किसी मनुष्य के पास इसके अलावा दूसरा चारा नही कि वह ससार मे जहा कही ऐसे शासन को सिर उठाते देखे, वही उसका प्रतिरोध करे। ·· · राजनीति मे यह कहना एक बडी दुष्टता, शरारत की बात है कि कोई एक व्यक्ति स्वेच्छाचारी शक्ति रख सकता है।" हम न तो अत्याचारी निरकुश शासक को चाहते है और न हम समाज या प्रजा के नाम पर किसी विशृंखलित भीड को चाहते है। स्पिनोजा के शब्दो मे, "सरकार का उद्देश्य यह नही है कि वह मनुष्यो को विवेकशील प्राणियो के स्थान पर पशुओ या कठपुतलियो मे परिणत कर दे, वरन् उसका उद्देश्य तो यह है कि पूर्ण सुरक्षा के वातावरण मे मनुष्य अपने शरीर और मन का विकास करें और उन्मुक्त रूप से अपनी बुद्धि और विवेक का प्रयोग करे।" वास्तव मे, सरकार का सच्चा लक्ष्य है स्वतन्त्रता।

लोकतंत्रिक सरकार स्वच्छ और कुशल प्रशासन पर ही टिक सकती है। औद्योगिक क्षेत्र मे जैसे-जैसे सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) का विस्तार होता जा रहा है, वैसे-वैसे सरकार सबसे बडी सेवा-योजक (employer) बनती जा रही है। हमे चाहिए कि हम केवल उपयुक्त योग्यता के कर्मचारियो को ही नियुक्त करें। प्रत्येक व्यक्ति को सरकारी पद प्राप्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए और कर्मचारियो का चुनाव योग्यता पर निर्भर होना चाहिए न कि किसी प्रकार के प्रभाव पर।

(३)

लोकतात्रिक ढग से किसी समस्या को सुलझाने का अर्थ है समझाना-

वुझाना, तर्क देना और परस्पर विरोधी विचारो मे समन्वय करना। यदि किसी वात पर मतभेद हो, तो कोई या तो यह कह सकता है कि "मेरी वात मान लो, नही तो तुम्हारा सिर तोड दूगा" या यह कह सकता है कि "आओ हम लोग बैठकर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की और फिर कोई फैसला कर लेने की चेष्टा करे।" यह दूसरा तरीका लोकतान्त्रिक है। इस पद्धति का विश्वास है कि प्रेम घृणा से अच्छा है, सहयोग सघर्ष की अपेक्षा अच्छा है और दवाव की अपेक्षा सहमति अच्छी है। वर्तमान ससार मे हिंसात्मक साधनो का प्रयोग अपने अच्छे से अच्छे रूप मे, लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओ से कायरतापूर्ण पलायन है और अपने बुरे से बुरे रूप मे, भविष्य के प्रति षड्यत्र है।

हम लोगो के सामने आज कई समस्याए है। आत्मा की स्वतन्त्रता का अनुभव करने के लिए शारीरिक और सामाजिक प्रतिवन्ध प्रत्याव-श्यक है। जीवन की सही ढग से आर्थिक व्यवस्था करके और उचित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करके हम अपने को भौतिक और सामाजिक बाध्यताओ से मुक्त कर सकते है। हमारे देश मे कई करोड़ मनुष्य बन्दी-ग्रह की यातनाओ से भी कही अधिक निष्ठुर दासता के शिकार हो रहे है। इन्सानो के साथ कभी-कभी ऐसा व्यवहार किया जाता है मानो वे इन्सान न होकर वाजार मे खरीदी-वेची जानेवाली वस्तुए हो। सविधान मे लिखे हुए वाक्य और कानून की पुस्तक मे लिखी हुई धाराए समाज के ढाचे मे परिवर्तन की परिचायक नही हैं। जो गरीव आदमी इधर उधर काम की तलाश मे मारे-मारे फिरते है और फिर भी जिन्हे काम नही मिल पाता, कोई मजदूरी नहीं मिलती और जिन्हें भुखमरी का शिकार होना पड़ता है, जिनका जीवन कटु यथार्थ और दारिद्र्य की चुटीली चुभन का एक अविराम क्रम वन जाता है, वे अपने सविधान और उसके नियमो पर गर्व नही कर सकते। जब तक हम अपने नाग-रिको को गरीवी, भूख, रोग और अज्ञानता से मुक्त करने मे समर्थ नही हो पाते, तव तक हमारा लोकतन्त्र बिल्कुल थोथा है, धुए की टट्टी है। हमे लोगो को आग्रह से समझा बुझा कर तथा उनकी सहमति प्राप्त करके सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमे

विश्वास है कि हम अपने सामाजिक वातावरण मे तर्क, समझौता और बहुमत के द्वारा सुधार कर सकते हैं। हमारे पास ऐसी सस्थाए होनी चाहिए जो सामाजिक सम्बन्धो के खिचाव को दूर कर आपस मे तालमेल बैठा सके और बीच-बिचाव कर सकें।

एक ओर जहा श्रमिक संघो (ट्रेड यूनियनो) को राज्य के हाथ का अस्त्र नही समझा जाना चाहिए, वहा दूसरी ओर श्रमिक सघो का भी कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्रीय हित के सामने वर्ग-हितो को प्रधानता देना छोड दे। जो सस्थाए या रूढिया आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय के मार्ग मे रोडा अटका रही हो, उन्हे दूर कर देने की आवश्यकता है।

यह सच है कि समाज को अपराधो से अपनी रक्षा करनी चाहिए, क्योकि सभी प्रकार की हिंसा कानून के शासन के लिए सकटतुल्य है। परन्तु हमको अपराध या पाप को उसके स्रोत स्थान पर ही रोक देने की चेष्टा करनी चाहिए। हमे ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न कर देनी चाहिए जिनमे हमारे देश के नर-नारी विश्वास और सुरक्षा के वातावरण मे रह सकें, काम कर सके और भविष्य का सामना कर सकें।

लोकतत्र एक नये जीवन के लिए निमत्रण है। हमने जिन आदर्शों को अपने सामने रखा है, वे यथार्थ मे भी परिणत होने चाहिए। सन् १९४७ मे जो कुछ हुआ, वह एक क्रान्ति का आरम्भ था और हमे उस क्रान्ति को सफल बनाना है। यदि हमारा सविधान एक ऐसे रचनात्मक समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप लचीला नही बनता जिसमे 'सबके विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति का विकास आवश्यक शर्त माना जाता हो' तो यह टूट जाएगा।

लोकतत्र के दो पक्ष है, एक पक्ष तो है व्यक्ति का निर्माण और दूसरा है ससार मे एकता लाना। एक नये समाज का निर्माण तभी सम्भव हो सकता है जब लोग अपनी समस्त सम्पदा से भी अधिक महत्त्व अपनी स्वतत्रता को देने लगें। हम एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना करना चाहते है जिसमे व्यक्तित्व की पवित्रता कार्यकारी सिद्धान्त बन जाएगी, जिसमे समस्त ससार सहकारिता की इकाई बन जाएगा, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होगे, जिसमे

संसार के आर्थिक उत्पादनो का पुनर्वितरण इस प्रकार होगा कि सभी लोगो को समान अवसर और सुविधाएं प्राप्त होगी । 'समस्त मानव-जाति का एक ही समाज हो'*—यह सुन्दर कल्पना आज कइयो के मन मे मूर्त्त रूप लेती जा रही है । यदि रचनात्मक समाज की और अविभाज्य लोकतन्त्र की कल्पना निर्बल पडती है, तो हमारे समाज का ह्रास होने लगेगा । यदि हम इस कल्पना को नही त्यागते, इसको साकार करने के लिए दृढप्रतिज्ञ रहते है तो हम आगे बढते है । रचनात्मक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए हमे अपने हृदय मे लोकतान्त्रिक भावना का विकास करना चाहिए । गाधी जी ने हमे यह सिखाया है कि जनता की आत्मा मे महान् शक्ति छिपी है, वह शक्ति उन अस्त्र-शस्त्रो मे निहित नही है जिनसे वह दूसरो को मारती है, वरन् वह शक्ति छिपी है स्वयं मरने के लिए प्रस्तुत रहने मे । 'महाभारत' मे कहा है—

"नैव राज्य नराद् आसीत्
न दण्डो न च दाण्डिक. ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः
रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥"[४]

अर्थात्—कोई जनता न तो अपने सविधान के कारण फलती-फूलती है, न दण्ड के डर से और न न्यायाधीश के भय से, बल्कि इसलिए कि वह धर्म का पालन करती है और एक-दूसरे की सहयोग पूर्वक सहायता करती है ।

* Societas generis hunani.'

४. शान्तिपर्व

देश की एकता न टूटने पाये*

मुझे यहा आकर और राष्ट्रीय शिक्षा परिषद, बगाल के स्वर्ण-जयन्ती-समारोह मे भाग लेकर प्रसन्नता हुई है। सन् १९०६ से १९५६ तक—पचास वर्ष हमारे देश के इतिहास मे घटनापूर्ण वर्ष रहे है और बगाल ने हमारे इस बहुमुखी पुनर्जागरण (Renaissance) मे बहुत प्रभावशाली योगदान दिया है। कला और साहित्य, राजनीति और सामाजिक सुधार, धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे बगाल की देन बहुत महत्त्व-पूर्ण रही है। बगाल की यह विशेषता है कि यहा के लोगो मे बौद्धिक शक्ति, सवेगात्मक तीव्रता और सत्कार्यो के लिए बलिदान हो जाने की भक्ति पायी जाती है। जिन दिनो हम पराधीन थे और निराशा का घनान्धकार हमे आच्छन्न किये था, उन दिनो भी इस राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् मे स्वतत्रता की मशाल प्रज्वलित रखी गयी थी।

विदेशी नियत्रण से मुक्त होने का हमारा जो आन्दोलन था, उसके कई पक्ष थे। यह राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् भी उस नियत्रण से मुक्त होने के हमारे प्रयासो का ही एक अग थी।

बगाल के कई श्रेष्ठ नेताओ का इस परिषद् से सम्बन्ध रहा है और इसकी स्थापना तथा विकास मे उन्होने भाग लिया है। उनमे से कुछ ये है—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविन्द घोष, आशुतोष चौधुरी तथा गुरुदास

---

* राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् (नेशनल कौंसिल ऑव एजूकेशन), बगाल के स्वर्ण-जयन्ती-समारोह मे भाषण—१७ मार्च, १९५६।

बनर्जी। इसका उद्देश्य था 'एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का सगठन करना जो साहित्यिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक विषयो की शिक्षा राष्ट्रीय भावनाओं के योग्य तथा राष्ट्रीय नियत्रण मे देती हो।'

शिक्षा की जो प्रचलित पद्धति थी, उसमे दो गम्भीर त्रुटिया थी। पहली तो यह कि वह मुख्यत. साहित्यिक थी और दूसरी यह कि वह राष्ट्रीय परपराओ की उपेक्षा करती थी। छात्रो को कला (arts), कानून और वाणिज्य मे शिक्षा देना अपेक्षाकृत अल्पव्ययसाध्य है और विज्ञान अभियान्त्रिकी (इजीनियरिंग) तथा प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलॉजी) मे शिक्षा देना बहुत व्ययसाध्य। किन्तु देश के साधनो का विकास करने और अपना जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए इन विषयो की शिक्षा का प्रबन्ध करना अत्यावश्यक है। राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् ने इस असन्तुलन को ठीक करने की चेष्टा की। राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् ने देश के औद्योगिक विकास की दिशा मे सबसे मूल्यवान योग अभियान्त्रिकी और प्राविधिक शिक्षा का प्रबन्ध करके दिया है। यद्यपि यहां से प्रशिक्षित छात्रो को सरकारी मान्यता और संरक्षण का लाभ नही प्राप्त था, तथापि अपने अच्छे कार्यों के कारण उन्होने स्वय अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करा ली। उनकी प्रशिक्षा को देश की सरकार ने ही नही मान्यता प्रदान की, वरन् हार्वड, येल तथा मिशिगन जैसे विदेशी विश्वविद्यालयो ने भी उसको मान्य किया। इस परिषद् की योजना थी कि प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चस्तरीय—प्रत्येक प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय और विद्या के विभिन्न अगो का अध्ययन करने की सुविधा प्रदान की जाय। इसने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया था।

यद्यपि यहा पर प्रमुख बल तो अभियान्त्रिकी और प्रौद्योगिकी पर ही था, तथापि इतिहास, राजनीति और साहित्य के अनिवार्य अध्ययन की भी सुविधा थी। यदि किसी का ज्ञान किसी एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित हो, तो वह सच्चे अर्थ मे शिक्षित व्यक्ति नही कहा जा सकता। विशेषीकरण की बुराइयों को तभी दूर किया जा सकता है जब एक ऐसा पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय जिसमे सभी विषयो की सामान्य शिक्षा का समावेश हो।

अतीत मे कई वैभवशाली और शक्तिशाली राज्य हो चुके है। जब वे मूलोच्छिन्न हो गये तव वे शक्तिहीन बन गये। वे इतिहास रूपी आकाश मे उज्ज्वल नक्षत्रो की तरह घूर्णित होते रहे। क्योकि वे उस अग्नि से विलग हो गये जिससे वे उत्पन्न हुए और जो उनको जीवित रखे रही, इसलिए वे उल्कापिण्डो की तरह जल उठे। राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् की इच्छा थी कि छात्रो का दृष्टिकोण राष्ट्रीय बनाया जाय और उन्हे राष्ट्रीय भावना मे दीक्षित किया जाय। जब हम राष्ट्रीय शिक्षा की बात कहते हैं, तब उससे हमारा यह तात्पर्य नही होता कि भौतिक शास्त्र तथा रसायनशास्त्र, अभियान्त्रिकी तथा प्रौद्योगिकी जैसे विषयो मे भी राष्ट्रीय सीमाओ के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन हो जाता है। इसका इतना ही अर्थ है कि हमारी एक राष्ट्रीय बपौती है, हमारे नैतिक मानो की एक राष्ट्रीय परपरा है और विद्यार्थियो को उससे परिचित होना चाहिए। भारतवर्ष ससार की अन्य भौगोलिक इकाइयो से पृथक् एक भौगोलिक इकाई-मात्र नही है, वरन् यह एक जीवित आत्मा है। इस देश की अपनी एक विचारधारा रही है, जिसको आध्यात्मिक विचारधारा कह सकते है। वह यह मानती है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा जिन नियमो का अध्ययन किया जाता है, उनसे भी उच्चतर कुछ नियम हैं, ससार बस उतना ही नही है जितने को हम देखते हैं, अनुभव करते है, छूते है और मापते है।

विज्ञान के नियम व्यावहारिक प्रयोग मे इतने प्रभावोत्पादक है कि हमारा यह विश्वास करने को जी चाहता है कि वैज्ञानिक नियमो द्वारा प्रशासित भौतिक ससार ही वास्तविक ससार है। गत पचास वर्षो मे विज्ञान ने हमारे जीवन मे जितने परिवर्तन ला दिये है, वे गत तीन या चार हजार वर्षो में हुए परिवर्तनो से भी बढकर हैं। रेडियो, टेलीफोन, विमान, पेनिसिलिन, प्लास्टिक्स, उग्र विस्फोटक बम तथा अणुबम—चाहे ये हमारे हित का कार्य करते हो या अहित का—ये सभी विज्ञान की ही उपज है। किन्तु, इससे भूत-द्रव्य (Matter) की सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध नही होती। इससे तो मानवीय आत्मा की ही सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है। मनुष्य की आत्मा ही प्रकृति के रहस्यो का भेदन कर सकी है। एक बात

यह भी है कि वैज्ञानिक को भी सफलता प्राप्त करने के लिए अनुशासित निष्ठा तथा निस्स्वार्थ वृत्ति जैसे गुणो को अपने भीतर विकसित करना आवश्यक है। उसमे सहनशीलता, पूर्वाग्रहहीनता, निष्पक्षता और नये विचारो के प्रति ग्रहणशीलता होनी चाहिए।

विज्ञान हमारे सम्मुख ससार की अखूट समृद्धि, उसकी आकस्मिकता और अद्भुतता का उद्घाटन करता है। विज्ञान हमारी सारी समस्याओं का समाधान करने का दम नही भरता। ऐसे क्षेत्र भी है जहा उसके आदेश मान्य नही होते। सब कुछ कहने और सब कुछ करने के बाद भी संसार एक रहस्य ही रह जाता है। भगवद्गीता मे कहा है—

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

जीवन और जगत् सम्बन्धी जो उच्चतम प्रश्न है, उनका उत्तर देना विज्ञान के लिए कठिन है, वे बहुत गहरे और रहस्यमय है, विज्ञान उनका पार नही पा सकता। हमे यह स्वीकार करना चाहिए कि हम विश्व के बहुत अल्पाश को ही समझते और नियत्रण करते है।

ससार का वैज्ञानिक अध्ययन करने से ही हमें उसके विषय मे सम्पूर्ण ज्ञान नही हो जाता। विज्ञान-प्रदत्त ज्ञान की भी अपनी सीमाएँ हैं। भौतिक शास्त्र से रसायन शास्त्र तक, रसायन शास्त्र से प्राणिशास्त्र तक, प्राणिशास्त्र से मनोविज्ञान तक, मनोविज्ञान से तर्कशास्त्र तक, और तर्कशास्त्र से सौन्दर्यशास्त्र तक, ऐसा लगता है कि कोई अटूट तर्कसंगत शृंखला जुडी हुई है, कारण और कार्य की एक परपरा इनके मध्य है जिसकी परिणति लोकतात्रिक सरकारो और विशाल विश्वविद्यालयों में होती है। परन्तु कुछ ऐसी बाते है जिनका समाधान हमारी बुद्धि नहीं कर सकती, जैसे यही रहस्य कि जीवनहीन वातावरण से जीवन का प्रादुर्भाव कैसे होता है, अचेतन वातावरण से चेतनता कैसे प्रकट हो जाती है, सत्य-शिव-सुन्दर विचार उन स्थानो से भी कैसे प्रकट हो जाते है जहा उनका सर्वथा अभाव जान पडता है? कुछ और भी समस्याए है, जैसे शरीर और मन का सम्बन्ध, आत्मचेतनता की प्रकृति आदि, जो विज्ञान के लिए पहेली है आत्मा का भी अपना अस्तित्व है, उसका भी एक राज्य है,

उसकी भी एक शक्ति है, इस बात पर विश्वास हमारे ज्ञान की परिधि के बाहर की चीज नही है,वह तो सृष्टि के अन्तस्थल मे जो रहस्य है,उस पर आधारित है। यह रहस्य इस बात मे निहित है कि ससार के कार्य करने की रीति मे एक सुव्यवस्थित नियम होने के साथ-साथ एक प्रकार की नवीनता भी दृष्टिगोचर होती है। ईश्वर अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति प्रकृति और इतिहास मे केवल सकट और घोर आपत्ति के समय त्वरित आवेशो मे नही करता। वैज्ञानिक ज्ञान का अन्त कहा हो जाता है और कहा से रहस्य का क्षेत्र आरम्भ होता है, इसमे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु दो क्षेत्र तो ऐसे है और सदैव रहेगे जिनमे से एक की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है और दूसरे की नही। ससार के अन्तस्तल मे एक रहस्य है। हम भले ही उस रहस्य को स्वीकार न करे, परन्तु इससे उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता हो, ऐसी बात नही। हम कालिदास के 'मेघदूत' के सौन्दर्य को और साधुता के महत्त्व को न तो किसी तराजू मे तौल सकने है, न किसी गज से नाप सकते है। सच और झूठ का, उचित और अनुचित का, सौन्दर्य और कुरूपता का ससार विज्ञान के ससार से भिन्न होता है। वैज्ञानिक तथ्यो का ससार और नैतिक मूल्यो का ससार —ये दोनो दो भिन्न ससार है। ये दोनो एक ऐसे ससार के अग है, जिसका नियत्रण एक ऐसी शक्ति के द्वारा होता है जो हमसे कही बडी है और जिसको हम परम सत्य या परब्रह्म कहते है। इस शक्ति के प्रति हमे सम्भ्रम और नम्रता की अनुभूति होती है। हमको इस ससार मे विश्व के आध्यात्मिक निर्देशो के अनुरूप कार्य करना चाहिए। सम्यक् विश्वास, सम्यक् अनुभूति और सम्यक् क्रिया—इन्ही को धर्म कहते है। धर्म तीनो का समन्वित रूप है। यह बौद्धिक सप्रत्यय, सवेगात्मक अत्यानन्द, या सामाजिक सेवा नही है। इनमे से कोई एक धर्म नही, वरन् तीनो मिलकर धर्म है। बौद्धिक जगत् से आध्यात्मिक जगत् तक का मार्ग कोई पारिमाणिक सचय नही है, वरन् वह तो गुणात्मक कुलॉच है। 'विज्ञान' से 'आनन्द' तक का सक्रमण एक कक्ष से दूसरे कक्ष मे कूद कर जाने के समान है।

वैज्ञानिक अभिवृत्ति अपेक्षा करती है कि हम विभिन्न तथ्यो और नैतिक मूल्यो पर निष्पक्ष और पूर्वाग्रहहीन होकर विचार करे। मनुष्य एक

ऐसे ससार मे निवास करता है जो एक ही साथ भयोत्पादक भी है और आकर्षक भी, उसके प्रति मनुष्य मे सम्भ्रम का भी भाव है और समादर का भी, उसको देखकर मनुष्य को अपनी अकिंचनता का भी बोध होता है और आनन्द का भी। ऐसे ससार मे रहते हुए मनुष्य स्वय को पहचानने की चेष्टा करता है। धर्म उसकी इन्ही आधारभूत प्रतिक्रियाओ तथा अनुभवो का अध्ययन करता है। इस प्रकार के अनुभव तभी होते हैं जब इस ससार की विधात्री शक्ति के प्रति हममे पूत भावना हो। हम अपने अनुभव के एक अश को लेकर उसको पूर्ण अनुभव की सज्ञा नही दे सकते, और न हम तथ्यो के वैज्ञानिक वर्णनो को परिकल्पित उपकल्पनाओ (speculative hypotheses) से घुलामिला सकते हैं। मार्क्सवादी समाजशास्त्र या फ्रायडवादी मनोविज्ञान तथ्यो को निर्वचनो (interpretations) के साथ मिला देता है।

अपनी इतनी सचित ज्ञानराशि के होते हुए भी हम भयावह दशा और दु खद स्थिति मे पडे हुए हैं, इसका कारण यह है कि हम विश्व के उच्चतर नियमो के प्रति उदासीन हैं। वे कौन-सी बाधाए है जिनके कारण हम आधुनिक महान् आविष्कारो का उपयोग ससार को अधिक सुखी और अधिक अच्छा बनाने मे नही कर पा रहे। वे बाधाए हैं—मानव-हृदय की वासनाए, मानव की दुष्टता, हठधर्मिता, नीचता और असभ्यता। हमे मनुष्य की बर्बरता को पालतू बनाना है। मानवीय प्रकृति मे पर्याप्त प्रगति हुए बिना, यदि अणु-युद्ध को रोक भी दिया गया, तो भी हम उन्नति नही कर सकेंगे। हमारे डगमगाते चरण ठिठक जाएँगे और हमारी गति अवरुद्ध हो जाएगी। यही पर हमारे देश की परपरा का महत्त्व सिद्ध होता है। हमे मनुष्य के मन मे आत्मा के सत्यो को केन्द्रीभूत करना होगा। यही सत्य हममे परिवर्तन लाएँगे, हममे उदारता, एक-दूसरे को समझने की प्रवृत्ति तथा स्वतत्रता की भावना उत्पन्न करेंगे। मनुष्यो के मन और हृदय मे परिवर्तन करने की आवश्यकता है। हममे ठीक वस्तु का चुनाव करने का विवेक होना चाहिए। यह सब नर-नारियो के प्रतिबोधनो (perceptions) और विचारों पर समाज के नैतिक मानो पर और हमको नियन्त्रित करनेवाली आन्तरिक

सबाधाग्रो पर निर्भर करता है। हमे मयुष्य की बुद्धि को ही प्रशिक्षित नही करना है, वरन् मनुष्य के हृदय को भी गरिमामय बनाना है। 'तेजस्विनावधीतमस्तु'। यदि हम वस्तुत आध्यात्मिक है, तो हम उन सारी चीज़ो को जो धर्म के नाम पर हमारे समाज मे प्रचलित हो गयी है और जिसको हमारे मन तथा हृदय किसी प्रकार ग्रहण नही कर पाते, काटकर फेक देगे। मै कभी-कभी अनुभव करता हू कि ससार की किसी जनता ने सत्य का इतना उत्साहपूर्वक उपदेश और उसका इतना कम प्रभावपूर्ण पालन नही किया, जितना कि भारतीय जनता ने।

दूसरे शब्दो मे, राष्ट्रीय शिक्षा के कारण हमारा आचरण इस महान् देश के, जो हिमालय से कन्याकुमारी तक और कच्छ से आसाम तक सुविस्तृत है, अनुरूप होना चाहिए। हमारे महान् नेताओ ने हमको देश की एकता का महत्त्व हृदयगम कराने का प्रयत्न किया है। हमारे महाकाव्य, हमारे उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थ, हमारी धार्मिक तीर्थयात्राएँ—सभी हमारे देश की एकता का उद्घोष करती है। उदाहरण के रूप मे, अशोक के शिलालेख देश के समस्त भागो मे—दक्षिण मे त्रावनकोर और मद्रास से लेकर उत्तर मे तक्षशिला तक—पाये जाते है। अपने इतिहास के आरम्भ से ही हम शान्ति और सबके प्रति सद्भावना का व्रत पालन करते आये है। अशोक-स्तम्भ के चारो सिह चारो दिशाओ के प्रहरी है और अशोक का 'धर्मचक्र' पाप पर पुण्य की विजय का प्रतीक है। भारत के इस पुनरुद्भव के समय हमने इन प्राचीन प्रतीको को पुनरुज्जीवित किया है। देश के विभिन्न भागो मे स्थापित हमारी वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ तथा हमारे सास्कृतिक त्यौहार हमारे देश की एकता के आदर्श है। वे हमे चेतावनी दे रहे है कि देश का टुकडे-टुकडे मे विभक्त हो जाना कितना भयकर होगा। हमारे इतिहास के पृष्ठो मे जातिगत और धर्मगत, भाषागत और क्षेत्रगत आन्तरिक सघर्षों के दुष्परिणामो की कहानी अकित है। उन्ही के कारण हमारे मुह पर कालिख पुती, उन्ही के कारण हम पराधीनता की बेडी मे जकडे गये। यहा तक कि हमारे देश का विभाजन भी राष्ट्रवाद की हमारी दूषित धारणा का ही परिणाम था। हमारे देश की शक्ति हमारी एकता के अनुपात मे घटेगी

या बढ़ेगी। जितने अधिक हम ऐक्यबद्ध होंगे, उतने ही हम शक्तिशाली बनेंगे, जितनी ही हममें फूट होगी, उतने ही हम निर्बल होंगे। आपका जीवन स्वच्छ, श्रेष्ठ और निस्स्वार्थ सेवा के लिए समर्पित होना चाहिए।

युग की चुनौती स्वीकार करो

यहा आकर और जादवपुर विश्वविद्यालय के प्रथम दीक्षान्त-समारोह मे भाषण करके मुझे हर्ष है। जब राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् (नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन) की स्थापना हुई थी, तब आशा की गई थी कि यह एक 'राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना' करेगी। आज आपको अपनी उस आशा के पूर्ण होने पर प्रसन्नता होनी चाहिए। अब आपके पास अध्ययन-अध्यापन के लिए एक विश्वविद्यालय हो गया।

कोई कॉलेज नाम बदल देने मात्र से, प्रधानाचार्य को उपकुलपति बना देने से, अधीक्षक (सुपरिन्टेन्डेन्ट) को परीक्षा-योजक (रजिस्ट्रार) का नाम दे देने से ही विश्वविद्यालय नही बन जाता। नाम बदल देने के साथ-साथ उसकी प्रकृति, स्वभाव मे भी परिवर्तन हो जाना चाहिए। कोई सस्था विश्वविद्यालय तभी कहला सकती है जब वह कुछ न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति करे। विश्वविद्यालय मे जिन विषयो का अध्यापन होता हो, उनमे उच्चतर अध्ययन और अनुसन्धान की व्यवस्था भी होनी चाहिए। विश्वविद्यालय मे ऐसे प्राध्यापक होने चाहिए जिन्होने विशिष्ट अनुसन्धान-कार्य किया हो और जो दूसरो का मार्ग-निर्देशन करने मे भी समर्थ हो। इसके लिए आवश्यक है कि उनको नित्य-प्रति के जीवन-यापन की चिन्ताओ से मुक्ति दिलाई जाए और परेशानियो से उनको अलग रखा

---

*जादवपुर विश्वविद्यालय मे प्रथम दीक्षान्त-भाषण—१८ मार्च, १९५६।

जाए। विद्याव्यसनी व्यक्ति विलासिता मे जीवन वितावे, यह आवश्यक नही, किन्तु उनको समाज के द्वारा इतनी सुविधाएं अवश्य मिलें कि वे सुखपूर्वक रह सके। आज ससार इतना उतावला और इतना हठी वन गया है कि विज्ञान और ज्ञान अवकाश के समय अभ्यास किए जाने वाले विषय नही रह गए, अब विद्या केवल विद्या के आनन्द के लिए नही अध्ययन की जाती, वरन् इसका भी उद्देश्य भौतिक लाभो की प्राप्ति रह गया है। विद्वान् व्यक्ति अब निरन्तर इसी उधेडबुन मे रहते हैं। यह अनुभूति कि हमने मानव जाति के ज्ञान मे वृद्धि की है, चाहे वह वृद्धि कितनी ही छोटी क्यो न हो; हमने मानवता की प्रगति मे सहायता की है, भले ही वह सहायता अल्प ही हो, हमको जो आनन्द प्रदान करती है, उसकी तुलना ससार के किसी भी आनन्द से नही की जा सकती। मुझे आशा है कि आप एक सीमित सख्या मे ही छात्रो की भरती करेंगे और उनके अध्यापन के लिए पर्याप्त तथा उच्च कोटि के अध्यापको को नियुक्त करेंगे। इन्ही दशाओ मे छात्रो और शिक्षको मे घनिष्ट साहचर्य सम्भव हो सकता है।

विश्वविद्यालय को प्रौद्योगिक विद्यालय नही वनना चाहिए। यह अच्छी वात है कि आपके विश्वविद्यालय मे कला और विज्ञान के कॉलेज होगे और छात्रो को उदार शिक्षा मिल सकेगी। छात्रो को केवल बौद्धिक रूप से सुयोग्य और प्रौद्योगिक रूप से कुशल ही नही होना चाहिए, वरन् उनके भावावेगो को सभ्य और उनके उद्देश्यो को परिष्कृत भी होना चाहिए। केवल तभी उनके विचार उदार हो सकेंगे और उनमे करुणा और सहानुभूति का विकास होगा।

जो राष्ट्र समय के नव्य विकास के प्रति जागरूक नही रहते, वे प्रगति की दौड मे पिछड जाते हैं, उनकी गणना पिछडे राष्ट्रो मे होने लगती है। अतीत मे हम अपने वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक पिछडेपन के कारण ही विजित हुए। हमारी समस्याएं आधुनिक हैं, इसलिए उनसे निपटने की हमारी रीतिया भी आधुनिक होनी चाहिए। आदिकालीन और प्राचीन उपायो से ये समस्याए नही सुलझ सकती। आज शान्ति और युद्ध दोनों की रीतियों मे आधारभूत परिवर्तन हो चुके है। यदि हम औद्योगिक उन्नति करना चाहते हैं और अपनी उत्पादनशीलता बढाना चाहते हैं, तो

हमे विधिवत विचार करना पडेगा। दूसरे देश हमारा पथ-प्रदर्शन भले करें, पर अन्तत हमको स्वय पर ही निर्भर करना है। अमेरिका और सोवियत सघ जैसे उन्नतिशील देश भी एक नये युग मे—अणु-युग मे—प्रवेश कर रहे है और वे अपनी आर्थिक, औद्योगिक एव सैन्य-नीतियो पर पुनर्विचार कर रहे है।

हम लोकतात्रिक उपायो से सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति करने की प्रतिज्ञा ले चुके है। हमे कुछ व्यक्तियो के हाथो मे शक्ति का केन्द्रीकरण बचाना चाहिए, हमे अधिक न्याय वितरण करना चाहिए और सामाजिक लाभो को सब तक पहुचाना चाहिए। समस्याओ को सुलझाने का हमारा ढग अव्यावहारिक सैद्धान्तिकता से प्रभावित नही है, हम किसी कठोर सिद्धान्त के बन्धन मे नही बधे है, हमारा ढग तो यथार्थ पर आधारित है—वह लचीला है। हम व्यक्तिगत स्वतत्रता पर आघात पहुचाये बिना अपने लक्ष्यो को प्राप्त करना चाहते है। हर मानव प्राणी की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, उसको उसका महत्व देना लोकतत्र का केन्द्रीय सिद्धान्त है। सभी धर्मों की यही शिक्षा है और हमारे सविधान मे भी इसको स्वीकार किया गया है।

विज्ञान की महान उपलब्धियो से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि भौतिक जगत् के समान ही ऐतिहासिक कार्यो मे भी एक आवश्यकता का नियम लागू है। ऐतिहासिक प्रक्रियाओ को इस प्रकार प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है, मानो वे किसी दैवी या अवैयक्तिक शक्तियो के परिणाम हो जिनका व्यक्तियो की आकाक्षाओ और प्रयासो से कोई लगाव ही न हो। तीन शताब्दी पहले, फ्रासीसी कैथोलिक लेखक बूसे (Bossuet) ने लिखा था कि घटनाओ की शृ खलाबद्धता, जिसे हम इतिहास कहते है, ईश्वर की गुप्त इच्छाओ से प्रशासित होती है। यदि हम यह कहे कि मनुष्य की कार्य-पद्धति मे हम ईश्वरेच्छाओ को नही देख पाते, तो बूसे (Bossuet) कहता है—"हमारी मुक्ति की क्रिया विधाता की इच्छाओ से किस प्रकार परिचालित होती है, यह हम मर्त्यो से अप्रकट ही रहती है।"

मै नही समझता कि दैवी न्याय या वैज्ञानिक निश्चयवाद ऐति-

हासिक घटनाओ की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हो सकता है। मानवीय नियत्रण मे स्वतत्र होकर घटनाए नही घटती। इतिहास मे अनिश्चित और अकल्पित घटनाए भी होती है। अरस्तू के समय से, यह विचार प्रचलित है कि घटनाए किसी आन्तरिक प्रेरणा से अपनी परिणति की ओर बढती है। यह प्रयोजन स्वयमेव सिद्ध नही हो जाता, इसके मार्ग मे बाधाए आती है और इसे कई शक्तियो से सघर्ष करना पडता है। इतिहास के पथ मे कई बन्द गलिया आती है, उसे कई रुकावटो का सामना करना पडता है, किन्तु इनके होते हुए भी इतिहास का रथ आगे बढता ही चला जाता है। उसकी गति धीमी हो या त्वरित, इसका निर्धारण मनुष्य का प्रयास करता है। यदि सभ्यताओ का ह्रास होने लगता है, तो इसकी कोई आवश्यकता नही पडती। सभ्यताओ का ह्रास मनुष्य की भूलो से होता है और वे भूले किन्ही नियमो द्वारा निर्देशित नही होती। वे मनुष्य की असफलताए होती है। जीवन की चुनौतियो का उत्तर देने के लिए मनुष्य स्वतत्र है। जब लोग अपने मन का लचीलापन खो देते है, उनकी आत्मा मे थकान भर उठती है, तब वे किसी रचनात्मक प्रयास के लिए अयोग्य हो जाते है। हमारे देश का भविष्य मानवीय सभ्यता की तरह ही एक खुला प्रश्न है। प्रगति अपरिहार्य नही है। यदि हम यह मान ले कि इतिहास चक्र को चलाने मे मनुष्य का कोई हाथ नही होता, वह अपना कार्य करने के लिए स्वतत्र नही है, अदृष्ट के अधीन है, तो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना का ही मूलोच्छेद हो जाता है। इससे अशासनीय दैवी शक्तियो को स्वीकार करने की प्रवृत्ति को जन्म मिलता है, मानव जीवन से आशा की जाए या निराशा, इसका निर्णय करने का विवेक समाप्त हो जाता है। इतिहास के निर्माण मे मनुष्य का वास्तविक भाग होता है। वह विकास की विभिन्न सभव प्रक्रियाओ मे से किसी का भी चुनाव कर सकता है। निजी जीवन मे भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने को स्वतत्र और कुछ न कुछ मौलिक कार्य करने के योग्य समझना चाहिए। मनुष्य ने जो कुछ किया है, उसे वह बिगाड भी सकता है। स्वतत्रता और आवश्यकता दोनो परस्पर सम्बद्ध है। वे एक-दूसरे के सापेक्ष है। जब घटनाए घटित हो जाती है, तब हम उन्हे भूतकाल से सम्बन्धित कर

सकते है, किन्तु जब तक वे होती नही, हम उनको पहले से नही देख सकते । एक युग के पश्चात दूसरे युग के आने का कोई सामान्य अनुक्रम नही होता । कभी-कभी अविच्छिन्नता की शृ खला मानव-जीवन मे टूट जाती है, हमे इतिहास मे अविच्छिन्नता और नवीन पद्धति के दर्शन होते है । यदि हम इतिहास के नियमो पर विचार करते समय व्यक्तियो के उत्तरदायित्व की उपेक्षा कर दे, तो हमे विकृत चित्र प्राप्त होगा । इतिहास मे कठोर और पूर्वनिर्धारित प्रतिकृतिया (patterns) नही होती। यह सच है कि विचार और विश्वास मनुष्यो के मन और कार्यो को प्रभावित करते है । विचारो और विश्वासो का अपना अलग जीवन होता है। जब वे आकस्मिकताओ और व्यक्तित्वो के ससार मे प्रविष्ट होते है, या तो वे विकसित हो जाते है, या उनका स्वरूप विकृत हो जाता है । मनुष्य जाति की मुक्ति मनुष्य के व्यक्तिगत प्रयासो के द्वारा ही सभव हो सकती है, अनाकार और अनाम समूह के द्वारा नही ।

मनुष्य द्वारा परिस्थितियो से सघर्ष करने और उनपर विजय प्राप्त करने के अविरत प्रयास का नाम ही तो सभ्यता का इतिहास है। यह उन महान् व्यक्तियो के चारो ओर चक्कर काटता है जिन्होने सत्य शिव एव सुन्दर मे अपनी अन्तर्दृष्टि के कारण उत्तरदायित्व लेने का साहस किया, जिन्होने जीवन को सकट मे डालकर भी अपने मनोवाञ्छित ढग मे चुनाव किये, अपने इच्छानुसार निर्णय किए । जिस सीमा तक हम सत्ता के भय से, जनमत के दवाव से, परिस्थिति से वाध्य होकर कार्य करते है, उस सीमा तक हमारा व्यवहार वाह्य प्रभाव के अन्तर्गत माना जाता है । हमारे क्रिया-कलाप सही अर्थ मे हमारे निजी नही होते । वे हमारी स्वतत्र इच्छा की अभिव्यक्ति नही करते । हमारे कार्यो का चुनाव दूसरे लोग हमारी ओर से करते है, अथवा घटनाए स्वय हमे उनको करने को वाध्य कर देती है । विधायक उत्तरदायित्व कुछ कष्ट सहन के पश्चात ग्रहण किया जाता है । जब हम वाह्य शक्तियो के प्रभुत्व से अपने को मुक्त कर लेते है या अपनी आन्तरिक वासनाओ से स्वतत्र हो जाते है, तभी हम विधायक उत्तरदायित्व सभालने की स्थिति मे हो पाते हैं । मनुष्य परिस्थितियो का खिलौना या शिकार नही है । हमको अन्धविश्वास, अज्ञानता, निर्दयता,

दमन और भयाक्रातता के विरुद्ध सघर्ष करना है। हम अपनी सभ्यता को अपने अध्यवसाय से बचाने की शक्ति रखते है।

लोकतन्त्र हमे एक ऐसे नव-जीवन का निर्माण करने को आमन्त्रित करता है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को उत्तरदायी समझता हो और जिस समाज का वह सदस्य हो, उसके भविष्य की रचना कर सकता हो। राजनीति मे लोकतान्त्रिक व्यवस्था को प्रतिष्ठित करके हमे लोगो की रचनात्मक शक्तियो को उन्मुक्त करना चाहिए। हम एक भी प्रतिभा को व्यर्थ नही खो सकते, एक भी युवा शरीर को भूखों नही मरने दे सकते, एक भी युवा मन को कुठित नही कर सकते।

ससार मे सबसे पहले प्राचीन यूनान मे लोकतन्त्र की स्थापना हुई थी। एथेन्स की पराजय के पश्चात् पेरिक्लिस (Pericles) ने जो शोक-भाषण किया था, उसका विवरण हमे थुसिडिडास (Thucydidas) के द्वारा प्राप्त है। भाषण से लोगो को पता चलता है कि वह प्रिय नगर अपनी महानता के समय अपने उस महानतम नेता के प्रशासन मे वस्तुत: कैसा रहा होगा। जिस आदर्श को एथेन्स मानता था, वह था कि व्यक्ति को स्वतन्त्र होना चाहिए, और स्वतन्त्र भी ऐसा कि उसे न किसी का भय हो, न वह किसी से घृणा करता हो और न वह अपनी आतरिक वासनाओ का दास हो। स्वतन्त्र मनुष्य ज्ञान मे, उस ज्ञान मे जो क्रिया का मार्गदर्शक हो, विश्वास करता है, वह सौन्दर्य और मैत्री मे भी विश्वास करता है। "मै चाहूंगा कि आप दिन पर दिन एथेन्स पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करें, उसकी गुप्त शक्तियो पर मनन करें, उसकी वर्तमान स्थिति पर ही नहीं, वरन् भविष्य मे क्या होने की शक्ति उसमे है, इस पर भी विचार करें— और ऐसा तब तक करें जब तक आप उस नगर के प्रेमी न बन जायँ। ध्यान दीजिए कि उसको इस गौरवपूर्ण पद पर पहुचाने वाले वे व्यक्ति थे, जो अपना कर्त्तव्य जानते थे और जिनमे कर्त्तव्य को पूरा करने का साहस भी था। उनको आप अपना आदर्श बनाइए और उनसे यह बात सीखिए कि सुख का रहस्य है स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का रहस्य है साहस।"

लोकतान्त्रिक समाज मे, जहाँ सभी मनुष्य शासक भी है और

शासित भी, शिक्षा का अधिक प्रसार होना चाहिए। यह आवश्यक नही कि यह शिक्षा साहित्यिक या शास्त्रीय ही हो। हमे सद्‌भावना, धैर्य और सहनशीलता का विकास करना चाहिए। आजकल जब कि विशेषज्ञता (specialization) की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढती जा रही है, मानसिक रोगो मे भी वृद्धि हो रही है, तब उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यो मे मनुष्य की खोई हुई आस्था को पुन प्रतिष्ठित करना अत्यावश्यक है। मनुष्य की आन्तरिक शक्तियो के विकास का यही एक मार्ग है। मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि आप धार्मिक शिक्षा पर भी बल देते हे। इतिहास के धरातल पर जो कुछ भी दिखायी देता है, वह गहरी जड वाले पौधे का फल है। वह पौधा आत्मा की गुप्त शक्तियो से अपना आहार सग्रह करता है। यदि किसी वृक्ष की जडे सूख जायँ, तो उसमे कोई फल नही लग सकता।

लोकतत्र की भावना समस्त मानव जाति को दासत्व, शोपण, भय और बुभुक्षा से मुक्त करने की चेष्टा करती है। सभी पीडित और न्यून-सुविधाप्राप्त राष्ट्रो मे लोकतात्रिक स्वतत्रता का विस्तार करके हम शान्ति और न्याय की दृढ नीव रख रहे है। इसके पश्चात् इस ससार की तीव्र वेदना के फलस्वरूप मानव जाति की एकता का जन्म होगा, जिसमे हमारे आदर्श अभय और सुरक्षित रह सकेगे।

इस विश्वविद्यालय के स्नातको से मुझे बस यही कहना है कि आप बड़े भाग्यशाली है जो एक ऐसे समय मे जीवित है जब सफलता प्राप्त करने के लिए बडी से बडी चुनौतिया और बडी से बडी सभावनाएँ आप-को प्रेरित कर रही है, ऐसा सुयोग इतिहास के किसी अन्य काल मे उप-स्थित नही हुआ था। इतिहास का निर्माण इतनी तीव्र गति से हो रहा है जितना इससे पहले कभी नही हुआ था, और यदि हम प्रयत्न करने के इच्छुक है तो हम इतिहास के इस निर्माण मे उसकी सहायता कर सकते है।

इस महान् निर्माण-यज्ञ मे आप भी भाग ले सकेगे, यदि आपके विश्वविद्यालय ने अपनी उत्पत्ति के प्रति निष्ठा रखते हुए, आपको केवल प्रौद्योगिक प्रवीणता ही नही, प्रत्युत् नैतिक विवेक और हमारे पूर्वजो की

महती उपलब्धियो द्वारा हमारे लिए निर्धारित जीवन-दर्शन भी प्रदान किया होगा। मैं यह कहने का साहस करता हूं कि हमारे पूर्वज वीर पुरुषो मे जितनी प्रेरणा थी, जितनी प्रतिभा थी और जितने गुण थे, उनका अल्पाश ही हमारे भाग मे आया है। हम कई युगो तक विदेशी शासन की छत्रछाया मे निवास करते रहे है, जब कि दूसरे लोग आगे बढने का प्रयास करते रहे है। फलतः हम अत्यधिक विलासी, अत्यधिक सुखप्रिय, अत्यधिक स्वार्थी बन गये। हम अपने को बहुत न्यायप्रिय समझने लगे, क्योकि हमने कभी एक-दूसरे से सीधे मुह बात तक नही की थी। आप जो कुछ भी करे या कहे, उसमे यह झलकता हो कि आपको अपने राष्ट्र की महानता मे तथा मानव जाति के कल्याण मे योग देने की उसकी आकाक्षा मे विश्वास है। मैं भरोसा करता हू कि आप अपने युग की, अपनी पीढी की अपने तन-मन और हृदय से सेवा करेगे और अपने आगे आनेवाले युग को भी प्रभासित करेगे।

नाटक और नाटककार*

यहाँ उपस्थित होने और नाटक-सम्बन्धी अध्ययन-गोष्ठी का उद्घाटन करने मे मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आपके कार्यक्रम को देखने से पता चलता है कि हमारे देश की विभिन्न भाषाओ मे नाटक का जिस रूप मे विकास हुआ है और जिस दशा मे वह इस समय है, इस विषय पर आप लोग चर्चा करने जा रहे है। निस्सदेह आप नाट्य-कला की प्राविधिक समस्याओ, लेखन के शिल्प, नाटक मे गीत और नृत्य के स्थान, रगमच की दृश्य-सज्जा, नाटको की अभिनय-अवधि, रगमच-निर्देशन और पात्रो की वेश-भूषा पर विचार करेगे। मै तो कुछ सामान्य बाते करके ही सतोष करूँगा। इससे अधिक के लिए न तो मेरे पास ज्ञान ही है, न योग्यता ही।

गत वर्ष हम लोग फिल्म-सम्बन्धी अध्ययन-गोष्ठी कर चुके हैं। फिल्म जब कि एक आधुनिक आविष्कार है, तब नाटक हमारे साथ बहुत प्राचीन काल से है। 'नाट्य-शास्त्र' मे सुरक्षित भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक की उत्पत्ति दैवी मानी जाती है। इसको पञ्चम वेद कहा जाता है जिसका उद्देश्य आखो और कानो—दोनो को आनन्द देना तथा परम सत्यो का ज्ञान कराना है।[1] कहते है कि ब्रह्मा ने कथन का

---

* नाटक-सम्बन्धी अध्ययन-गोष्ठी, दिल्ली मे उद्घाटन-भाषण—२५ मार्च, १९५६।

१ "सर्वशास्त्रार्थ सम्पन्न सर्व-शिल्प प्रदर्शनम्।
नाट्याख्य पञ्चम वेदम् सेतिहासम् करोम्यहम्॥"

तत्त्व ऋग्वेद से, गान का तत्त्व सामवेद से, अनुकरण का तत्त्व यजुर्वेद से और भाव का तत्त्व अथर्ववेद से लिया है। ब्रह्मा के आदेश पर दैवी शिल्पी विश्वकर्मा ने एक नाट्य-गृह का निर्माण किया। फिर भी भारतीय नाटक मे रगमच की साज-सज्जाएँ थोडी और सीधी-सादी होती थी। हमारे नाटको मे बहुत विस्तृत कृत्रिम दृश्य-रचना (सीनरी) नही होती थी, बल्कि सकेतो और मुख-मुद्राओ के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता था। किसी पौधे मे पानी देने का दृश्य दिखाना होता था, तब उस प्रक्रिया का अनुसरण सकेत के द्वारा कर दिया जाता था और दर्शक इससे संतुष्ट हो जाते थे। रगमच पर पौधे नही लाए जाते थे और न वास्तव मे उन्हे पानी से सीचा जाता था। सामान्यतया हमारे यहाँ नट (अभिनेता) और नटी (अभिनेत्रियाँ) होती हैं। कभी-कभी नायक का पार्ट भी किसी लडकी के द्वारा पूरा किया जाता है।

जब कथन सकेतो, गतियो और नृत्य के द्वारा दर्शको के मन मे स्थायी भाव का उद्रेक किया जाने लगा, तब नाटकीय प्रदर्शन एक कला बन गया। 'नाट्यदर्पण' मे लिखा है—"नाटकम् इति नाट्यति विचित्र रञ्जनात् प्रवेशेन सभ्यानाम् हृदय नर्तयति इति नाटकम्।"

कविता और नाटक के माध्यम से मनुष्य अपना साक्षात्कार स्वय करता है। वह अपनी आत्मा को प्रतिबिम्बित करता है, वह अपनी इच्छाओ, उत्तेजनाओं, आशाओ, स्वप्नो और ससार मे अपना स्थान बनाने के लिए किए गए सघर्षो मे अपनी सफलताओ तथा असफलताओं को अभिव्यक्त करता है। समस्त साहित्य अनुभूति की तीव्रता की अभिव्यक्ति है, 'वाक्य रसात्मक काव्यम्।' पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—"रमणीयार्थप्रतिपादक वाक्य काव्यम्।" 'कविकृतम् काव्यम्' भी कहा गया है। काव्य के दो प्रकार हैं—श्रव्य और दृश्य। 'दृश्य' ही नाटक या ड्रामा है। नाटककार अपनी कला की पूर्णता, उसके वैचित्र्य, उसके सगीत और उसकी भाव-दशा से हमे आनन्दित करता है। वह ऐसा तभी कर सकता है जब वह स्वाध्याय और तप का अभ्यासी हो। यदि नाटक को मानव-मन के प्रकाशन का सबसे अधिक शक्तिशाली माध्यम बनना है, तो नाटककार के मन को प्रौढ और उसकी आत्मा को महान् होना ही चाहिए

इसके बिना हम काल और स्थान की दूरी का व्यवधान पार करके जनता के स्नेह को प्राप्त नही कर सकेंगे। कोई भी साहित्यिक कृति तभी स्थायी गुण और अभिभूत करने की शक्ति पा सकती है जब उसके रचयिता का मन महान् हो और उसकी कल्पना प्रखर हो। यदि हम ऊपरी सतह पर ही अधिक रह जाते है, तो जीवन की अधिक गहरी और अधिक अस्पष्ट अनुभूतियाँ उचित अभिव्यक्ति नही पाती। अपने जीवन मे यदि हम मूलोच्छिन्न है, आस्था-विहीन है, तो हमारे जीवन मे गरिमा का अभाव दिखाई देगा और हमारी रचनाओ मे भी कृत्रिमता आ जाएगी। हमारे नाटक, अन्य कई प्रकार से आकर्षक और प्रशसनीय होते हुए भी, उपर्युक्त बातो का अभाव होने पर हमारे हृदय की गहराइयो तक पहुचने मे असमर्थ रह सकते है। वे भले ही हमारे मन मे तूफान उठा सके, परन्तु फिर भी वे हमारे अन्तस्तल को स्पर्श करने मे समर्थ नही होगे। एक महान् नाटक हमे अभिभूत कर लेता है, हमारे मन की वस्ती को उजाड फेंकता है, हमारी मान्यताओ को झँझोड डालता है, उनको ध्वस्त कर डालता है, किन्तु इतना करते हुए भी वह हमे आनन्दित करता है और हममे ताजगी, नई स्फूर्ति भर देता है।

नाटककार की आन्तरिक कल्पना अपनी विशदता और सम्पूर्ण तीव्रता के साथ ससार की समस्त इयत्ता, उसकी सारी गहराइयो और ऊँचाइयो को अपने भीतर समाविष्ट कर लेती है। ससार का कोई भी विषय, कोई भी घटना—पुण्य और पाप, आनन्द और शोक, गर्व और पूर्वाग्रह—तात्पर्य यह कि सब कुछ नाटकीय प्रदर्शन का विषय बन सकता है। ससार बडा जटिल और दुरूह है।

क्वचिद् वीणावाद्यम् क्वचिद् अपि च हाहेति रुदितम्।
क्वचिन् नारी रमया क्वचिद् अपि जराजर्जरवपु ॥
क्वचिद् विद्वद्-गोष्ठी क्वचिद् अपि सुरामत्तकलहो।
न जाने ससारः किम् अमृतमय किम् विषमय ॥

—'कही तो वीणा की सुमधुर रागिनी है, कही रुदन का हाहाकार है; कही प्रमदा रमणियाँ दृष्टिगोचर हो रही है, तो कही जराजर्जर शरीर वाली ककालावशेष वृद्धाएँ, कही तो विद्वानो की गोष्ठी दिखाई दे रही

है और कही मद्यपो के लडाई-झगडे दीख रहे है । मैं नही समझ पाता कि इस ससार को अमृतमय स्वर्ग समझू या विषमय नरक ?' कवि अपना दर्पण प्रकृति के सामने कर देता है और उसके प्रत्येक स्वरूप का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करता है ।

यद्यपि हमारे सम्मुख भलाई और बुराई, पुण्य और पाप का सघर्ष उपस्थित होता है, तथापि इस सम्बन्ध मे भारतीय दृष्टिकोण पश्चिम के दृष्टिकोण से भिन्न है । हम यह नही मानते कि भलाई और बुराई कही मिल नही सकेगी और दोनो का द्वन्द्व कभी समाप्त नही होगा । हम तो यह मानते हैं कि कुछ भी हो, अन्ततः विजय भलाई की, पुण्य की, सद्‌गुण की ही होगी, क्योंकि विश्व मे नैतिकता का शासन है । 'सत्यमेव जयते' सत्य की सदा विजय होती है और यही बात शिवम् और सुन्दरम् के साथ भी है ।

पीडा या दु ख मे ही जीवन की परिणति नही है । कदाचित् यही कारण है कि हमारे यहाँ दु खान्त नाटको का अभाव रहा है । हमारे काव्य मे दुःखद परिस्थितियाँ तो आती हैं जहाँ जान पडता है कि मनुष्य भाग्य नियति के चगुल मे जा फँसा है, वही चरित्र और परिस्थिति का पैतरा चलता है, कभी कोई जीतता दीखता है, कभी कोई; परन्तु अन्त कभी दु खद नही होता । इसका कारण यह है कि लेखक किसी चीज को सर्वांश मे बुरा नही मानता, हर वस्तु अपना शुक्लपक्ष रखती है, लेखक उसी को ग्रहण करने की चेष्टा करता है ।

जबकि नाटककार हमको उन ऊँचाइयो का दर्शन कराता है जहाँ तक मनुष्य ऊपर उठ सकता है और उन गहराइयो को दिखाता है जहाँ तक मनुष्य नीचे गिर सकता है, तब वह हमारे भीतर ऐसी भावना भी उत्पन्न कर देता है कि हम अच्छाई से सहानुभूति रखने लगते हैं और बुराई मे घृणा करने लगते हैं । वह हमारी अनुभूतियो पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है और हमारे मन मे विचारो को अप्रत्यक्ष रूप मे आरोपित करता है । लेखक अपने विचारो का ढिंढोरा नही पीटता, डीग नही हाकता, परन्तु चुपके-चुपके वह हमारे जीवन को बदल डालता है । जैसा कि मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्यप्रकाश' मे कहा है—"कान्तासम्मिततयोप-

देशयुजे।" वह इसकी व्याख्या करते हुए कहते है—"कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखी—कृत्य रामादिवद् वर्तितव्यम् न रावणादिवद् इत्युपदेशञ्च यथायोग कवे सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यत्नीयम्।"

अभिनेता को इस योग्य होना चाहिए कि वह जिन पात्रो का प्रतिनिधित्व कर रहा है, उनकी अनुभूतियो को अपने प्रेक्षको के हृदय मे जगा सके। कुछ लोग इस विचार के है कि अभिनेता को अपनी भूमिका (पार्ट) मे तद्रूप हो जाना चाहिए और कुछ लोगो का विचार यह है कि उसको अपनी भूमिका से नि स्पृह, विरक्त रहना चाहिए। कभी-कभी हम अति-अभिनय (Over-acting) से भावो को चिथडे-चिथडे कर डालते है। अभिनेता को भावावेश से इतना अभिभूत नही हो जाना चाहिए, बल्कि उसे भावनाओ को बौद्धिक रूप मे, सयत प्रकार से प्रकट करना चाहिए।[1] कहा जाता है कि तमिलनाड के राजा कुलशेखर (१२वी शताब्दी) ने जब यह श्लोक सुना कि चौदह हजार राक्षसो से लडने के लिए राम अकेले जा रहे है, तब वह इतना उत्तेजित हो उठा कि उसने तुरन्त अपने को आपादमस्तक शस्त्र-सज्जित कर लिया और राम के सहायक के रूप मे रावण से लोहा लेने के लिए अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ कूच करने को वह उद्यत हो उठा।

"शुश्राव तम् इमम् श्लोक भक्तिमान् कुलशेखर ।
चतुर्दश सहस्राणि राक्षसाम् भीमकर्मणाम्,
एकश्च रामो धर्मात्मा कथ युद्ध भविष्यति ।
असहिष्णुस् ततोऽधर्मयुद्ध शीघ्रम् स्खलद्गति,
धनुर्बाण समादाय खड्ग चर्म च वीर्यवान्,
चतुरगबलोयेतो जनस्थान कृतत्वरा,
तत् क्षणे तस्य प्रतस्थे सहायार्थं हरि-प्रिया ॥"[††]

---

१ देखिए, 'मन्दार-मरन्द'—

"उत्पादयन सहृदये रसज्ञानम् निरन्तरम् ।
अनुकर्तृ स्थितो योऽर्थोऽभिनय. सोऽभिधीयते ॥"

†† अनन्ताचार्य प्रपन्नामृत, अध्याय ८६

भारतीय नाटक का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मानव-मन मे बहुत गतिशीलता आई है, कलात्मक सृजन की दिशा मे पुनर्जागरण दिखाई दिया है। हमे आशा है कि इस युग मे चिर-स्थायी महत्त्व की रचनाएँ की जाएँगी। लेखक और अभिनेता दोनो अब अधिक संख्या मे मिलने लगे है। भारतीयो मे अभिनय का गुण प्रकृत्यया पाया जाता है। नगरो और सडको से दूरस्थ स्कूलो और कॉलेजो मे मैंने लडको और लडकियो को इतनी उच्च कोटि की कुशलता और गरिमा के साथ अभिनय करते देखा है कि मुझे अपने देश मे नाटक के भविष्य के प्रति बहुत आशा बँधी है। हमारे सभी प्रमुख केन्द्रो मे नये-नये नाट्य-गृह स्थापित होते जा रहे है। आपके अध्यक्ष महोदय तेलुगु के एक प्रतिष्ठित नाटककार है। आपकी उपाध्यक्षा श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय 'थियेटर सेंटर आफ इण्डिया' की अध्यक्षा है। थियेटर क्लब मे अभिनेता और लेखक गण तथा नाटक मे दिलचस्पी रखने वाले लोग नाटक-प्रेमियो मे अधिक समझ-बूझ ला सकते है। हम अन्य देशो के रगमच-सम्बन्धी आन्दोलनो का अध्ययन करके उनसे भी लाभान्वित हो सकते है। हमे कलाकारो को प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि वे सदा पिटी पिटाई लीक पर न चलकर नये प्रयोग करने की भी चेष्टा करें।

यद्यपि कलाकार जन्मजात होते है, बनाए नही जाते, तथापि प्रशिक्षण से दोनो प्रकार के अभिनेताओ को सहायता मिलेगी। प्रत्येक स्कूल और कॉलेज मे एक नाट्य-परिषद् होनी चाहिए। हमे अपने स्वभावो और परम्पराओ के अनुरूप अपने नाटक का विकास करना चाहिए। नाटक शिक्षा है, मनोविनोद है, और है मनोरञ्जन का एक साधन।

यह कहा जाता है कि नाटक युग चेतना का निर्माण करता है, युग की अन्तरात्मा को चैतन्य करता है। हम ससद् के अधिनियमो के द्वारा लोगो को भलामानुष नही बना सकते और न वैधानिक उपायो के द्वारा समाज मे गहरी जड जमाए हुए पूर्वाग्रहो और भेदभावो को ही दूर किया जा सकता है। हम लोकमत का निर्माण करके सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करते है। मैं कई नाटककारो को जानता हू जिन्होने हमारे देश मे आचरण के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए खून-पसीना एक कर दिया

है यहाँ उनका नाम लेने की मैं कोई आवश्यकता नही समझता। हमारे यहाँ सामाजिक सुखान्त, व्यग्यात्मक, गम्भीर और छाया-नाटको के लिए खूब गुजाइश है।

मुझे आशा है कि आप इस अध्ययन-गोष्ठी मे जो चर्चाएँ करेंगे, उनसे रगमच-सम्बन्धी आन्दोलन और नाट्य-कला के प्रति जनता मे रुचि जागेगी, फलस्वरूप हमारे प्रतिमानो (Standards) मे सुधार होगा।

विज्ञान की विनाशक शक्ति से मानव जाति कैसे बचे ?*

अपने विद्वत्समाज मे मुझे सम्मिलित करके आपने मेरा और मेरे द्वारा मेरे देश का बहुत सम्मान किया है। मैं इसकी बहुत सराहना करता हूँ।

यद्यपि आकार और जनसख्या की दृष्टि से आपका देश अपेक्षाकृत छोटा है, किन्तु कला और साहित्य के क्षेत्र मे आपका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। आपके अग्रणी लेखको से मेरे देश के लोग भली भाति परिचित है, विशेषत मेटरलिंक (Maeterlink) और कवि वरहेरेन (Verhaeren) तो बहुज्ञात है। शास्त्रीय, रोमानी और प्रभाववादी विचारधाराओ के माध्यम से आपका जो प्रभाव चित्रकला पर पडा, वह केवल यूरोप तक सीमित न रह सका। आपने केवल ललित कला और साहित्य से ही ससार को प्रभावित नही किया है। यद्यपि आपके प्राकृतिक साधन सीमित है, तथापि अपने कठिन श्रम से और अध्यवसाय की भावना से आपने ससार के व्यापार मे अपना उच्च स्थान बना लिया है। बेलजियम एक बहुत औद्योगिक देश है और इस्पात, शीशा, सूती वस्त्र आदि मे उसने विशेष कुशलता प्राप्त की है। हमे आपकी जो चीज सबसे अधिक पसन्द है, वह है लोकतान्त्रिक विधि से आपके द्वारा अपने देश का किया

---

* 'फ्री यूनिवर्सिटी,' ब्रूसेल्स मे भाषण—४ जून १९५९।

हुआ विकास। हम भी अपने देश मे लोकतान्त्रिक उपायो से 'कल्याणकारी राज्य' स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। लोकतन्त्र की आपकी परपरा की जड बहुत गहरी और दृढ है। इसकी जड मध्य युग तक जाती है जब कि यहा ब्रगेस, घेन्ट, लीज इत्यादि 'कम्यून' या स्वतन्त्र नगर-राज्य स्थापित थे। चौदहवी शती मे आपके यहा भी इलैण्ड के मैगना चार्टा (Magna Charta) जैसी चीज हुई जिसमे आपको स्वतत्रता और समानता की वैधानिक गारण्टी दी गयी। आप अतीत मे कई परिवर्तनो से गुजर चुके हैं और आपका लोकतन्त्र दो महायुद्धो की उथल-पुथल तथा आक्रमणो को झेलकर जीवित बच रहा है।

आज जब चारो ओर आपाधापी मची हुई है, तब आपने अपने लोकतत्र को दृढ रखा है। इसकी शक्ति राजनीतिक और आर्थिक ही नही है, प्रत्युत बौद्धिक और नैतिक भी है। लोकतत्र के सुचारु सचालन के लिए अन्य प्रकार के शासन-तत्रो की अपेक्षा अधिक गुणो की आवश्यकता होती है। विश्वविद्यालय ही वे स्थान हैं जहा हम लोकतत्र की सच्ची भावना का विकास कर सकते है, दूसरो के विचारो को सहानुभूतिपूर्वक समझना सीख सकते है और बातचीत के द्वारा अपने मतभेदो को दूर करने का अभ्यास डाल सकते हैं। व्यक्ति मे उत्तरदायित्व और निर्णय की भावना का विकास करके लोकतत्र को स्वस्थ और सबल बनाया जा सकता है। विश्वविद्यालयो मे हमे भूतकाल के सघर्षो को स्मरण करना है, और वर्तमान के सकटो तथा सभावनाओ, चुनौतियो तथा अवसरो को समझने की चेष्टा करनी है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कारण हमारे लिए विश्व कल्याण की बात सोचना सम्भव हो गया है। यद्यपि धार्मिक महात्मा और पैगम्बर बहुत पहले से ही मनुष्यो मे भाईचारा स्थापित करने और समस्त पृथ्वी के मानवो का एक परिवार बनाने का स्वप्न देखते आये है, तथापि इन आदर्शो को व्यवहृत करने के लिए जिन शक्तियो की आवश्यकता है, वे अब उपलब्ध हुई है। इन सम्भावनाओ को यथार्थ बनाने के लिए हमे मानवता और विवेक की आवश्यकता है।

मानव जाति का भविष्य मानव के भविष्य पर, उसकी शक्ति पर

और अपने सामने उपस्थित समस्याओ का समाधान करने की उसकी रीति पर निर्भर करता है। यदि मानव शक्ति पर भरोसा करता है और सैन्यशक्ति का उपयोग करता है, तो उसका भविष्य निश्चय ही अन्धकार-मय है; किन्तु यदि दूसरी ओर, वह आत्मिक शक्ति मे विश्वास करता है, तो वह फूलेगा, फलेगा।

विज्ञान की प्रगति के लिए स्थापित ब्रिटिश सघ The British Association for the Advancement of Science) के ११६वे वार्षिक अधिवेशन मे 'विज्ञान और मानव प्रकृति' विषय पर उद्घाटन भाषण करते हुए प्रोफेसर ऐड्रियन ने जो 'रॉयल सोसाइटी' के अध्यक्ष है, कहा था कि प्रकृति की शक्तियो पर इतना पूर्ण नियत्रण प्राप्त कर लिया गया है कि 'हम शीघ्र ही इस योग्य हो जायेगे कि एक बटन दबाते ही दो तिहाई ससार का सहार कर सके।' प्रकृति पर मनुष्य का जो इतना नियत्रण हो गया है, उससे हमे बाध्य होकर अपने स्वभावो को सुधारना होगा और उसके लिए सभ्य जीवन की कला मे अधिक दीक्षित होना होगा। प्रो० ऐड्रियन ने आगे कहा था—"यदि हम मानवीय व्यवहार को अधिक सूक्ष्मता से समझ सके, तो हम सभवतः स्वय को अधिक शीघ्रता से उन्नत कर सकेगे।" हमे यह स्मरण रखना है कि प्राकृतिक विज्ञान तो प्रकृति की शक्तियो पर मानव का नियत्रण स्थापित कर देते है, परन्तु सामाजिक विज्ञान मानव-प्रकृति का नियंत्रण हमारे हाथ मे नही दे पाते। सामाजिक विज्ञान हमे तथ्य और आंकडे प्रदान करते है। सामाजिक अन्वेषणो का निस्सन्देह महत्त्व है। परन्तु वे हमे सामान्यक और लक्ष्य नही दे पाते। प्रो० ऐड्रियन ने स्वीकार किया है—"हम आज भयभीत है और यह ठीक ही है। हमको अपने ऊपर भरोसा नही है कि हम शान्तिपूर्वक कार्य कर सकेगे, क्योकि हम जानते है कि यदि हम अपनी कुछ प्राचीन निष्ठाओ, उत्तरदायित्वो को नही छोड देते, तो हम एक ऐसे युद्ध मे धकेल दिये जायेगे, जो मानव प्रजाति को ही समाप्त करने वाला होगा। आज हम जिस दशा मे पहुच गये है, वह हमारी जिज्ञासु-वृत्ति का और हमारे ससार की भौतिक प्रकृति का अपरिहार्य परिणाम है, किन्तु यदि हम अपने बढे हुए ज्ञान के योग्य अपना आचरण भी बना सकें,

तो हम सुरक्षित रह सकते है।" समाज मे रहते हुए मनुष्य जो आचरण करता है, उनके विषय मे हमे सामाजिक विज्ञानो से ज्ञात होता है। किन्तु इस ज्ञान का उपयोग भलाई के लिए भी हो सकता है और बुराई के लिए भी। हमको दर्शन शास्त्र, धर्म-शास्त्र और साहित्य तथा कला का भी अध्ययन करना चाहिए, क्योकि इन्ही से हमको निर्देशन और मार्ग-दर्शन मिल सकता है। दुर्भाग्य से लोगो मे यह भ्रान्त धारणा वन गयी है कि मनुष्य मे मानवता और विवेक लाने के लिए जिन अनुशासनो की आवश्यकता पडती है, विज्ञान उनके अनुकूल नही पडता।

कैथोलिक देश होने के कारण आप लोगो का विचार है कि न्याय, दान तथा दया जो ससार की सबमे बडी आवश्यकताए हैं, वे धर्म की सारतत्त्व है, मनुष्य न तो प्राणिशास्त्रीय प्राणी है और न अर्थशास्त्रीय। वह आध्यात्मिक व्यक्ति है। वह सासारिक सम्पत्तियो से ही सन्तुष्ट नही हो जाता। मानव जाति के महान् शिक्षको—हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुसलमान तथा सिख धर्म पृथ्वी पर शान्ति की बात करते है। शाति की यह भावना मनुष्य की आध्यात्मिक शोध का ही मूर्तिमान रूप है। मानव-एकता के नाम पर जो बडे-बडे उथल-पुथल होते है, वे एकता स्थापित नही करते, वरन् बडी भयकर भूल करते है। इसाइयाह (Isaiah) ने एक बार कल्पना की थी कि एक समय आएगा जब राष्ट्र अपनी तलवारो को हल के फार (ploughshares) बना डालेगे और अपने भालो को हँसियो का रूप दे देगे, वे युद्ध-कौशल सीखने की भूल फिर कभी नही करेगे। यह कल्पना बतलाती है कि जब मनुष्य मे उच्चतम मानवता जागती है, जब वह विचार और सहयोग की उच्चतम मानसिक स्थिति मे होता है, तब वह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तिवश किस प्रकार की कल्पना किया करता है।

अन्तरराष्ट्रीय समझ-बूझ और अन्तरराष्ट्रीय शान्ति को बढाने की दिशा मे विश्वविद्यालयो को बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। विश्वविद्यालयो मे ही हमे नये प्रकार से विचार करने और अनुभव करने का अभ्यास करना होगा। सन् १८८८ मे फ्रास के लुई पोश्चोर ने कहा था—"मेरे विचार मे इस समय दो परस्पर विरोधी नियमो मे प्रतियोगिता चल रही है। पहला है रक्तपात और मृत्यु का नियम, जो प्रतिदिन विनाश के नये-

नये उपाय निकालता जा रहा है, जो राष्ट्रो को हर समय युद्ध के लिए तैयार रहने के लिए बाध्य करता है। दूसरा नियम है शान्ति, श्रम और स्वास्थ्य का नियम, जिसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य को विचलित करने वाली आपत्तियो से बचाना है।.. इन दोनो मे से कौन-सा नियम दूसरे पर हावी होगा, यह तो ईश्वर ही जाने। परन्तु, एक बात तो निश्चित है कि विज्ञान मानवता के नियम का पालन कर रहा है और वह सदा जीवन की सीमाओ को विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा।" यदि हम अपने मन को नही बदल सकते, तो हम किसी चीज को नही बदल सकते। राजनीतिज्ञो के कार्यो के द्वारा इतिहास की घटनाओ का स्वरूप नही निर्धारित किया जा सकता। वे निर्धारित होगी उन गुप्त धाराओं के द्वारा जो राजनीतिक इतिहास के धरातल के नीचे-नीचे निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और जिनके परिणाम के विषय मे हम पहले से ही कुछ नही कह सकते। अपने विचारो मे परिवर्तन करके ही हम उन गुप्तधाराओ को प्रभावित कर सकते है। और विचारो मे परिवर्तन किया जा सकता है सत्य की पुष्टि करके, मिथ्या का पर्दाफाश करके, घृणा को दूर करके और मनुष्यो के मन तथा हृदय को विस्तृत करके।

विज्ञान के कारण हम इतिहास के विषय मे कोई निश्चयात्मक विचार बनाकर नही चल सकते। एच० ए० एल० फिशर के शब्दो मे इतिहासकार के लिए एक ही सुरक्षित नियम है कि वह मानकर चले कि मनुष्य के भाग्य के विकास मे आकस्मिक और अदृष्ट शक्तियो का भी हाथ होता है। घटनाए ऐसी नही होती, जिन्हे रोका न जा सके। उनके लिए पहले से ही निश्चित कोई ढाँचे नही होते। मनुष्य के मनो और कार्यो पर विचारो तथा विश्वासो का जो प्रभाव पडता है, उसकी हम उपेक्षा नही कर सकते। विचारो का भी अपना जीवन होता है, जब वे आकस्मिक घटनाओ तथा व्यक्तित्वो के भवर मे जा फसते है, तब या तो वे विकसित हो जाते हैं या विकृत हो जाते है। यदि हम उदार अहठधर्मी विचारो का उपदेश देने वाले लोगो को नगण्य समझते है, यदि हम विचार-शक्ति का दमन करते हैं, यदि हम मनुष्य की आत्मा का गला घोट देते है, यदि हम उसकी स्वतत्रता को नष्ट कर देते है, तो हम लोक-

तान्त्रिक नही कहे जा सकते। मनुष्य ने जो कुछ किया है, उसे वह बिगाड भी सकता है। मानव जाति का भविष्य केवल तभी निरापद होगा जब उसके लिए मनुष्य व्यक्तिश प्रयत्न करेगा। विश्वविद्यालय के लोगो कोअपने विचारो का विस्तार करने मे काल और स्थान की सीमा नही रखनी चाहिए। जो लोग हमारी प्रजाति या धर्म के न भी हो, उनको भी मनुष्य समझना चाहिए। वे हमारे समान ही है, हमसे बहुत भिन्न नही है। हमे अपने युवको मे ऐसी भावना उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वे समस्त मानव जाति के लिए एक समान उद्देश्य तथा मनुष्य की बन्धुता मे विश्वास कर सकें। ससार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति अपनी मनुष्यता, अपने बन्धुत्व, ज्ञान, प्रेम और सौन्दर्य के आदर्शों के प्रति अपने अनुराग के कारण ही सर्वश्रेष्ठ बन सके है। वे मानवो के शिल्पी है। विश्वविद्यालयो मे हम ऐसे व्यक्तियो को गौरव प्रदान करते है जिन्होने मानवता का हित साधन किया और हिंसा तथा रक्तपात मे जिन्होने कोई भाग नही लिया। बुद्ध, सुकरात और ईसा ऐसे ही व्यक्तियो की श्रेणी मे आते है। उन्होने अपने शत्रुओ को भी प्यार करने का उपदेश दिया था।

विज्ञान और पाण्डित्य एकदेशीय नही होते, वे समस्त ससार के होते है। वे किसी एक युग या एक सप्रदाय से सम्बन्धित नही होते। वे राष्ट्रो की सीमाओ का अतिक्रमण कर जाते है। जो लोग सरस्वती के पुजारी हैं, विद्याव्यसनी हैं, वे सब आपस मे भाई है, वे सभी साहित्य गणराज्य के नागरिक है।

मानव जाति के विकास को अधिक गहराई से समझने और उसके सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम जो सतत सचेष्ट है, उसमे हमे एक-दूसरे की सहायता की आवश्यकता है। मुझे आशा है और मेरी यह इच्छा है कि यह महान् विश्वविद्यालय अपनी उदार परपरा को जारी रखेगा और आपके देश की प्रगति तथा ससार के कल्याण के लिए कार्य करता रहेगा।

व्यक्ति की स्वतंत्रता पवित्र है*

आपने इस प्रमुख विश्वविद्यालय का मुझे सम्मानित प्राध्यापक नियुक्त करके मेरा जो सम्मान किया है उसके लिए मैं आपका धन्यवाद करता हूँ। मैं इस विश्वविद्यालय के लिए कोई अपरिचित व्यक्ति नही हू। मैं कुछ वर्ष पहले भी यहा आ चुका हू। मुझे प्रसन्नता है कि आप अब इस विशाल भवन मे आ गये है।

सन् १९१७ की अक्तूबर-क्राति के समय से बच्चो की देखभाल पर, युवको के प्रशिक्षण पर एव कलाकारो, विद्वानो, विश्वविद्यालयो और अकादमियो के प्रोत्साहन पर विशेष ध्यान दिया गया है। यह विशाल और साज-सज्जा से सज्जित भवन ही इस बात का उदाहरण है कि आप समाज के बौद्धिक जीवन मे कितनी रुचि ले रहे है।

किन्तु, भवनो से ही कोई विश्वविद्यालय नही बनता। अध्यापक, छात्र और उनके द्वारा विद्या का अध्ययन-अध्यापन—यही विश्वविद्यालय की आत्मा है। विश्वविद्यालय किसी देश के बौद्धिक जीवन का मन्दिर होता है। जनता मे ही राष्ट्रीय जीवन की स्वस्थ जडे पायी जाती है, राष्ट्रीय जागृति का स्रोत जनता ही है। समाज के क्रान्तिकारी आन्दोलनो के पीछे जनता की ही शक्ति कार्य करती है। जब हम शिक्षा देते है तब हम प्रारम्भिक सिद्धान्तो के विषय मे गरमा-गरम बहसे करते है। शिक्षित युवक अपने विचारो को अभिव्यक्त

---

*मास्को विश्वविद्यालय में भाषण—१८ जून १९५६।

करेगा और वस्तुओ की वर्तमान स्थिति मे मीन-मेप निकालेगा। हम इस विश्वविद्यालय मे केवल डॉक्टरो और इजीनियरो को ही नही प्रशिक्षित करते, वरन् उन लोगो को भी, जो स्वयमेव विचार करने की क्षमता रखते है। वे सभी चीजो को दलगत आधार पर नही परखते। यदि हम जनता की आगे वढकर काम करने की प्रवृत्ति को और उसकी स्वतंत्रता को नष्ट करते है, तो हम ऐसा करके अपने ऊपर सकट ही मोल लेते हैं। यदि लोग अपना बौद्धिक ओज खो देते है, तो सभ्यता का भविष्य निश्चय ही अन्धकारमय समझना चाहिए।

यात्रिक कौशल या वौद्धिक ज्ञान को ही मानवीय विकास समझ लेने का भ्रम नही करना चाहिए। ये एक वस्तु नही हे। मानवीय विकास से तात्पर्य है मनुष्य की आत्मा का विकास। आधुनिक मनुष्य जनसमूह मे खो गया है। समाज तथा उसके प्रवक्ता फिल्म, रेडियो, टेलीविजन तथा समाचार-पत्र आदि जो कहते है, मनुष्य उसको स्वीकार कर लेता है। हममे आत्मग-चिन्तना (automatic thinking) का अतिरेक हो गया है। वौद्धिक अखण्डता सकटग्रस्त है और सत्य की हानि हो रही है। महान् पुस्तको का शान्तिपूर्वक अध्ययन करने से हममे स्वतत्र रूप से मनन की क्षमता उत्पन्न होती है। उच्चकोटि के प्राचीन साहित्यिक ग्रथो, जिनमे महान् मस्तिष्को ने अपने को अभिव्यक्त किया है, के अध्ययन से हमारी आत्मा का विकास होता है। यद्यपि हम शारीरिक रूप से अपने देश और अपने ही युग से सम्बन्धित है, तथापि विश्वविद्यालयो के छात्रो के रूप मे हम सभी देशो और समस्त युगो के हैं। हमारे समय मे, विश्व-विद्यालय मे हमने आपके महान् लेखको—पुश्किन, टॉल्सटॉय, डॉस्टॉ-वस्की, तुर्गनेव, चेकव और गोर्की के ग्रथो को पढा था। उनको पढकर हम आपकी जनता और आपकी प्रतिभा के प्रशसक वन गये थे। उन्होंने आपके यातना पाये हुए अत करण और आपकी आध्यात्मिक बुभुक्षा को हमारे सामने व्यक्त कर दिया है। मनुष्य नीरसता और रिक्तता से सन्तुष्ट नही होता। हमको ज्ञात है कि आपके सन्तो और सिद्धो ने सत्य, शिव, सुन्दर मे अपनी अन्तर्दृष्टि के लिए किस प्रकार उत्तरदायी होने का साहस किया था, उन्होने अपने प्राणो को हथेली पर लेकर अपने निर्णय

किये थे। आपकी जनता गम्भीर, रहस्यमय है। मुझे आशा है कि आपके अध्ययन और प्रशिक्षण सत्य, शिव और सुन्दर के प्रति आपके स्वाभाविक प्रेम को बढाने मे सहायक होगे और अदृष्ट के प्रति आपकी भूख को विनष्ट नही कर देगे। हमे याद रखना चाहिये कि बडे क्षेत्रफल या सम्पदा से ही कोई राष्ट्र महान् नही होता। यदि हम अपने भौतिक साधनो का प्रयोग आत्मा की मुक्ति के निमित्त करे, आत्मा के विस्तार के लिए करे, तभी हम महान् समझे जाने के योग्य हो सकते हैं।

कई ऐसे अनीश्वरवादी है जो कहते हे कि हम ईश्वर पर विश्वास नही करते और कार्य ऐसे करते है मानो वे विश्वास करते है। दूसरी ओर, कई ऐसे धार्मिक व्यक्ति भी है जो कहते हे कि हम ईश्वर पर विश्वास करते है, परन्तु उनके कार्यो से लगता हे, मानो वे उस पर विश्वास नही करते। जिन वैज्ञानिको ने अणु-शक्ति का विकास किया, उन्होने अपने प्राणो को संकट मे डालकर ऐसा किया और एक सच्चे मानव-समाज के निर्माण मे सहायता करने की चेष्टा की। हमे आज मनुष्य की दयालुता, बन्धुत्व और गरिमा को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता है।

यदि सोवियत सघ मे सगठित धर्म-सस्था के प्रति अमैत्रीपूर्ण भाव है, तो इसमे सारा दोष सोवियत सघ का ही नही हे। जो लोग अपने साथियो के आध्यात्मिक कल्याण के लिए अत्युत्साह मे आकर धार्मिक प्रचार का आयोजन करते है, वे मुक्ति के उपायो के विषय मे एक अशिष्ट प्रतियोगिता मे जा पडते है। जो सस्थाएँ धर्म-परिवर्तन कराने का कार्य करती है, वे आत्माओ की उन्नति के लिए उत्कट प्रयत्न करती जान पडती हे, परन्तु उनका यह कार्य धर्म की सच्ची भावना के अनुरूप नही होता। सोवियत सघ की जनता उस धर्मान्धता से परिचित है जिसने 'धर्म-युद्धो' मे यूरोप का सत्यानाश कर डाला था। ऐसे भी लोग है जो अपने ही धर्म को ईश्वरीय वाणी का एकमात्र ठेकेदार समझते है। वे अत्युत्साह मे प्रतिपादित करते है कि ईश्वरीय वाणी की जितनी पूर्ण, अनूठी, एकान्त और अतुल अभिव्यक्ति उनके अपने धर्म मे हुई है, उतनी किसी दूसरे धर्म मे नही। अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे ही लोग धर्म को राहु-ग्रस्त कराने

और ससार के एक बडे क्षेत्र मे अविश्वास का मुर्चा लगाने के लिए उत्तर-दायी है। उनकी विफलता का कारण उनमे विनम्रता का अभाव और उनकी धार्मिक आक्रामकता है। जो लोग विज्ञान और आलोचना की भावना मे दीक्षित है, वे यदि धार्मिक सकीर्णता मे फँसे, तो इसे उनकी आध्यात्मिक कायरता ही कहा जाएगा। कई आधुनिक विद्वान् प्राचीन कट्टर धर्मो को स्वीकार करने मे अपने को असमर्थ पाते है। मै यहा एक-दो उदाहरण देना चाहूगा। स्वर्गीय प्रोफेसर ए० एन० ह्वाइटहेड् का विचार था कि ईसाई धर्म के व्याख्याताओ ने ही सारी गडबड फैलायी। उन्होने विचार-विनिमय का द्वार बन्द कर दिया और यह घोषित किया कि उस विषय पर जो कुछ जानने योग्य था, वह सब कुछ वे जान चुके है। विचारो को अन्धविश्वास की शृ खला मे जकड दिया गया। प्रोफेसर ह्वाइटहेड् के ही शब्दो मे—"बाइबिल के अर्थ का अनर्थ करनेवाले भी उसके व्याख्याता ही रहे है। उन्होने ईश्वर की अनन्तता की भावना को काट-छाटकर शान्त एव सीमित धारणाओ मे बदल डाला। 'न्यू टेस्टामेट' का प्रथम व्याख्याता पॉल ही उसका सबसे बुरा व्याख्याता सिद्ध हुआ।"[1] 'वे ईसाई धर्म के अध्यात्मवाद को मानव जाति के जीवन मे घटित एक बडी दुर्घटना'[2] समझते थे। धार्मिक अनुभव और अध्यात्मवाद की प्रकृति के विषय मे उनके विचार भारतीय चिन्तको के समान ही थे। "रहस्यवाद के अनुसार हम अपनी रहस्यानुभूति के आधार पर कोई ऐसी रचना करने की चेष्टा करते है जिससे वह अनुभूति रक्षित रह सके, या कम से कम उसकी स्मृति ही शेष रह सके।"[3] शब्दो के द्वारा वह अनुभूति केवल अस्फुट रूप मे ही प्रकट हो पाती है, हम अनन्त के साथ अपने सम्पर्क के विषय मे अवगत है और हम जानते है कि किसी भी ससीम रूप के माध्यम से हम उस अनुभूति को यथावत् दूसरो को नही समझा सकते। धर्म के

---

१. 'डॉयलॉग ऑफ अल्फ्रेड नार्थ ह्वाइटहेड्' जिसे लूसीन प्राइस ने अकित किया; १६५४, पृष्ठ १३१

२ वही, पृष्ठ १७१

३ वही, पृष्ठ १७१

प्रति हमारा विश्वास है कि वह ईश्वर से हमारा सपर्क (commuion) करा सकता है। धर्मों के बीच जो विभेद है, उनको हम महत्त्वहीन या अप्रासगिक नही समझते। हम भेदरहित विश्वात्मवाद या धर्मो के प्रति तटस्थ भाव का सुझाव नही रखते। हम तो यह विश्वास करते है कि सभी धर्मो मे आपस मे साझेदारी की भावना होनी चाहिए। प्रोफेसर आर्नल्ड तोयन्बी लिखते हैं—"बचपन से ही मुझे यह विश्वास कराया जाता रहा कि सम्पूर्ण सत्य का जितना अनूठा दैवी प्रकाशन ईसाई धर्म मे हुआ है, उतना अन्य किसी धर्म मे नही। मै अब यह विश्वास करने लगा हू कि जितने भी ऐतिहासिक धर्म और दर्शन है, वे सत्य के किसी एक या दूसरे पक्ष का ही आशिक दैवी प्रकाशन करते है। विशेषत मेरा विश्वास है कि 'एक ससार' के जिसकी ओर हम दूरी के मिट जाने के कारण बढते जा रहे है, विषय मे बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म, ईसाई, इस्लाम और यहूदी धर्म को बहुत कुछ सिखा सकते है। यहूदी (Judaic) धर्मो की भाति भारतीय धर्म यह नही मानते कि एकमात्र वही सम्पूर्ण सत्य को व्यक्त कर सकते है। वे इसकी सम्भावना स्वीकार करते है कि जन्म और मृत्यु के रहस्य को समझने के एक से अधिक मार्ग है, और मुझे यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म के इस दावे से कि वही अकेले ईश्वरीय वाणी का अनूठा और पूर्ण प्रकाशन कर सकते है, यह बात अधिक सत्य के समीप जान पडती है। इसी भारतीय दृष्टिकोण को लेकर मैंने अपनी पुस्तक के चार खण्ड लिखे है। निस्सन्देह, हममे से प्रत्येक व्यक्ति विश्व के रहस्य को अपने ही पैतृक धर्म के माध्यम से अधिक सरलता से समझ सकता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उस रहस्य तक पहुचने के लिए अन्य धर्म जो मार्ग सुझाते है, उनकी सम्भावना को ही हम अस्वीकार कर दें। यदि कोई व्यक्ति अपने धर्म को समझने के साथ-साथ दूसरे धर्मो के तत्त्वो को भी समझने की चेष्टा करता है, तो वह लाभ मे ही रहता है, हानि मे नही।"[1]

---

१. 'इटरनेशनल अफेयर्स', (१९५५), पृष्ठ १–४–ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री : ह्वाट आई एम ट्राइग टु टू।

हमे धार्मिक सकीर्णता के रोग से तो वचना ही चाहिए, परन्तु हमे एक उचित धर्म की आवश्यकता पर भी वल देना चाहिए। आधुनिक मनुष्य एक आत्मभरित सत्ता वन गया है और एक ऐसी शक्ति को भूल गया है जो हमारी समझ और हमारे नियत्रण से परे है। इससे मनुष्य खण्डित हो जाता है। मनुष्य की श्रेष्ठता को पूर्ण बनाने के लिए हमे बौद्धिक विश्वास की आवश्यकता है। इस प्रकार का बौद्धिक विश्वास विज्ञान की भावना के साथ भी असंगत नही है। आइन्सटीन अपनी पुस्तक "दि वर्ल्ड ऐज आइ सी इट्" (ससार—मेरी दृष्टि मे) मे लिखते है—"मनुष्य की धार्मिक अनुभूति प्राकृतिक नियम की एकता को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाती है। प्राकृतिक नियम मे इतनी श्रेष्ठ बुद्धि के दर्शन होते है कि उसकी तुलना मे मानव जाति की समग्र नियमबद्ध विचारणा और क्रिया नितान्त तुच्छ, महत्त्वहीन प्रतिच्छाया-सी जान पडती है। जहाँ तक मनुष्य स्वार्थपूर्ण इच्छा के वशीभूत नही होता, यह अनुभूति उसके जीवन का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त बन जाती है। सभी युगो की धार्मिक प्रतिभाओ को जिन विचारो ने प्रभावित किया है, उनसे यह अनुभूति भिन्न नही है, यह निर्विवाद है।" मुझे आशा है कि आप एक ऐसे धर्म का पालन करने का विवेक प्रदर्शित करेगे जो बौद्धिक और नैतिक दोनो ही हो।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो को अज्ञानता, अन्याय, दमन और भय के विरुद्ध सघर्ष करने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। महान् क्रातियो से—आग्ल, फ्रासीसी, अमेरिकी और रूसी क्राति से—स्वतत्रता की प्रगति की प्रमुख मजिलो का पता चलता है। उनकी प्रतिध्वनि ससार के सभी भागो मे सुनायी दी थी और उससे लोगो के मन स्पन्दित हो उठे थे। ये सभी क्रातिया इस मान्यता पर आधारित रही है कि व्यक्ति पवित्र है, उसको अपनी धारणा के अनुसार सोचने की, अभिव्यक्ति की और आराधना की स्वतत्रता होनी चाहिए। कानून की दृष्टि से व्यक्ति को समानाधिकार प्राप्त होने चाहिए। उसको अपनी शक्तियो का विकास करने के लिए न्यायोचित अवसर मिलने ही चाहिएँ। ससार मे बहुत-से भाग ऐसे है, विशेपत एशिया और अफ्रीका मे, जहाँ इन विश्वव्यापी

सिद्धान्तो को मान्यता नही प्राप्त है। वही राष्ट्र जिनके क्रांतिकारी सिद्धान्तो ने मानवता को अनुप्रेरित किया था, आज उन सिद्धान्तो को कार्यान्वित करने मे बाधा डालते जान पडते है। वे भूलते प्रतीत होते है कि समय स्थिर नही रहता और परिवर्तन राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मानव-जीवन का स्वभाव है।

इस विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक के पद पर मेरी नियुक्ति विद्या के ससार की एकता का प्रतीक है। हम लोगो को जो विश्वविद्यालयो मे कार्य करते है, ससार के मन को इस योग्य बनाना है, ताकि एक विश्व समाज की स्थापना हो सके जिसकी एक-ही चेतना हो, जिसका एक-ही अन्त.करण हो। यह तभी सम्भव है जब वे राष्ट्र जिनके पास एक-दूसरे को मटियामेट कर देने की शक्ति है, उस शक्ति को तिलाञ्जलि दे दें। इनके लिए आस्था की आवश्यकता है।

अध्यापक का कार्य है कि वह विद्यार्थियो को वह चीज न बतावे, जो वे चाहते है, वरन् उसका कार्य है विद्यार्थियो मे उस चीज के लिए चाह उत्पन्न कर देना, जिसे वह उनको बताता है। यदि मैं यह देखूंगा कि आप गलत रास्ते पर जा रहे है, तो प्राध्यापक के रूप मे मैं आपको झिडकने का अपना विशेषाधिकार काम मे लूगा। मुझे आशा है कि आप यह दावा नही करते कि हम कभी गलती कर ही नही सकते।

हमारा वर्तमान संकट और हमारा कर्त्तव्य

सयुक्त राष्ट्र संघ से जितने सगठन सम्बन्धित है, उनमे 'यूनेस्को' (संयुक्त राष्ट्र सघ का शैक्षिक, सामाजिक और सास्कृतिक सगठन) का महत्त्व किसी से कम नही है, क्योकि यह हमारे विचार और जीवन की धुरी को बदल देने मे रुचि लेता है। पिछले दस वर्षो मे इस सगठन ने शान्ति और सुरक्षा के निर्माण के लिए ससार मे सहानुभूति की वृद्धि के लिए और शिक्षा, विज्ञान एव सस्कृति की उन्नति के निमित्त जो कुछ किया है, उसके विषय मे यदि मैं वतलाने लगू तो मुझ पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि मैं यूनेस्को का ढिढोरा पीट रहा हू, क्योकि इसी अवधि मे मै इस सगठन के साथ सम्बन्धित रहा था। यह कार्य मैं दूसरो पर छोडता हू।

आज ससार की जो दशा है, उससे प्रत्येक विचारवान् मनुष्य को गर्व, व्याकुलता और आशका हो सकती है। यह गर्व का ही विषय है कि हमारी पीढी ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी मे इतनी महान् उन्नति कर ली है कि आज हम आकाश पर शासन करने लगे है, हम नक्षत्रो तक पहुचने लगे है और ससार के किसी भी भाग मे जा सकते है। हमारी सभ्यता इस अर्थ मे अनूठी है कि यह ससारव्यापी सामाजिक व्यवस्था के लिए हमे एक आधार प्रदान करती है। आज के पहले कभी ससार इस रूप मे एक हुआ

---

[1]यूनेस्को के दिल्ली-अधिवेशन मे स्वागत भाषण—५ नवम्बर, १९५६।

था, इनका उदाहरण इतिहास मे नही मिलता। इस नवीन परिस्थिति की चुनौती का सामना करने के लिए हमे नवीन साधनो और उपायो की खोज करनी है, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की विरासत मे प्राप्त ढर्रे पर ही नही चलते जाना है। हम लोग यह देखकर परेशान हो उठे है कि सामाजिक न्याय और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तो के आधार पर अन्तर-राष्ट्रीय सगठनो के माध्यम से एक विश्व समाज-व्यवस्था स्थापित करने के हमारे प्रयास सफल नही हो पाए है। यद्यपि हम यह जानते है कि ससार एक है, इस बात को हम पसन्द करते हो या न करते हो और राजनीतिक, राष्ट्रीय तथा प्रजातीय विभेदो और विभागो के होते हुए भी हममे से हर आदमी का भाग्य हर दूसरे आदमी के भाग्य से जुड़ा हुआ है—हम इस बात को खूब अच्छी तरह समझते है—तथापि हम अपने अन्तरतम मे इसकी अनुभूति नही करते। जब हम पाते है कि बडे-बडे राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो से व्यवहार करने के अपने तरीको को बदलने के लिए तैयार नही है और पुराने ढग के खतरनाक तरीको को अपनाने की हठधर्मी पर अडे हुए है, तब हम न केवल परेशान हो उठते हैं, वरन् आशकित भी। ससार के राष्ट्र बहुत आकस्मिक रूप से एक-दूसरे के समीप आ गए हैं, दूरी का व्यवधान मिट गया है, इस प्रकार जो बलात् सामीप्य ससार पर थोप दिया गया है, उससे विभेदो मे तीव्रता आ गई है और सघर्ष की सम्भावनाए बढ गई है। हमारे युग ने हमारे सम्मुख जिन और जैसी समस्याओ को ला रखा है, उससे हम हतबुद्धि से हो रहे है, इसका कारण यह है कि जिन बडे राष्ट्रो से हम इस अवसर पर नेतृत्व की आशा करते है, वे अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहे है। उन्होने 'लीग आफ नेशन्स' को तहस-नहस कर डाला और यदि हम सतर्क नही रहे, यदि जनमत ने उनमे नकेल नही डाल दी, तो इसकी भी सम्भावना है कि वे 'युनाइटेड नेशन्स' (सयुक्त राष्ट्र सघ) की भी बखिया बैठा दे।

पहले हम सोचते थे कि हम विकास की वेगवती धारा मे आ पडे है और हम चाहे न चाहे, अब से अच्छे एक ससार मे हम पहुच ही जाएगे। परन्तु हमारा यह सोचना गलत निकला। पिछले युग मे हमे प्रगति की अपरिहार्यता मे आस्था थी। जब यह पृथ्वी केवल एक द्रवित पदार्थ के रूप

मे थी तब किसी को यह कल्पना भी न रही होगी कि वह कभी इस प्रकार हरी-भरी और जीवन से स्पन्दित हो उठेगी। धीरे-धीरे पृथ्वी ठडी पडी, महासागर अस्तित्व मे आये और बाद मे वनस्पतिया भी उगने लगी। इस सृष्टि मे प्राणियो के विकास की प्रक्रिया भी बडी निश्चित और क्रमशः ऊर्ध्वमुखी रही है। पहले अमीबा (Ameaba—कामरूपी या एक कोशा जन्तु) की स्थिति रही, उससे अनन्त प्रकार के जीव-जन्तुओ, का विकास हुआ—रेंगने वाले जन्तुओ, बन्दरो, वनमानुषो से होते होते आदिकालीन असभ्य मनुष्य और अन्त मे सभ्य मनुष्य का विकास हुआ। यदि हम सकुचित दृष्टि से देखे, तो इस प्रक्रिया मे कही-कही ह्रास भी दिखाई देता है, परन्तु यदि विस्तृत दृष्टि से देखे तो हमे यह प्रक्रिया क्रमश ऊपर की ओर ही आती हुई दिखाई देती है—भले ही कुछ समय के लिए इसमे अवरोध आते रहे हो। इसलिए यह मान लिया गया है कि हम एक निष्ठुर तार्किक क्रम से आगे की ओर, सम्भवत आख मूदकर ही, बढते रहेगे। बहुधा हमारी यह प्रगति रुकती हुई जान पडेगी, कभी हम स्वय नही बढना चाहेगे, परन्तु यह विकास-यात्रा तब तक नही रुकेगी जब तक हम सभ्य जीवन की उच्चतर स्थितियो मे नही पहुच जाते। उन्नीसवी शताब्दी मे हम प्रगति की इस अपरिहार्यता के प्रति पूर्ण आस्थावान थे। विकासवाद के सिद्धान्त मे विश्वास रखने वाले हमे बतलाते है कि प्राकृतिक चयन के नियमो के फलस्वरूप हमारा वर्तमान अपूर्ण समाज अब से अधिक पूर्ण समाज मे रूपान्तरित हो जाएगा और उस समाज की मनुष्यता भी आज की मनुष्यता की अपेक्षा अधिक सुसस्कृत, अधिक अच्छी होगी। इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या इसी मत की पुष्टि करती है। गत दो महायुद्धो के पश्चात् हम अब अपने भविष्य के प्रति इतने आश्वस्त नही है। प्रथम महायुद्ध के बाद हम सबने कल्पना की थी कि हम सब समझदार आदमी है और हम सबके हित समान है। हमने सोचा था कि चूकि हम सभी शान्ति चाहते है, इसलिए हम एक नयी सामाजिक एकता की ओर तेज़ी से बढेंगे। द्वितीय महायुद्ध ने प्रगति के इस बुलबुले मे छेद कर दिया। हमारा सपना टूट गया।

इस तर्क मे जो आधारभूत भ्रान्ति है, वह यह कि हमने प्राकृतिक

इतिहास और मानव-इतिहास दोनो को एक ही तार्किक क्रम से समझने की चेष्टा की है; मनुष्य से मिलते-जुलते प्राणियो के साथ लागू होने वाले नियमो और मानव-समाज पर लागू होने वाले नियमो को हमने एक ही समझ लिया है। हमे इसमे सन्देह नही कि प्रारम्भिक प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य ने काफी प्रगति कर ली है, किन्तु हम यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि हमारे सुख और हमारी सामाजिक नैतिकता मे भी उसी अनुपात मे प्रगति हुई है। यदि हम अतीत की कुछ सभ्यताओ के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो हमको यह क्रम दिखाई देगा—चढाव और उतार, ऊपर की ओर तेजी से उठान, समस्याओ के जाल मे उलझ जाना, एक थकान, धीमी गति से, परन्तु निरन्तर ह्रास, सभ्यता-रूपी शरीर के तन्तुओ का सूखना, रक्तवाहिनी नलिकाओ का कडा हो जाना और अत मे रचनात्मक शक्तियो का क्रमशः प्राणान्त।

जिस सभ्यता का विकास हमने किया है, वह भी परिवर्तन के नियम से मुक्त नही है। हमारी यह सभ्यता उठेगी या गिरेगी, यह आकाश के ग्रहो पर निर्भर नही, बल्कि स्वय हम पर निर्भर है। सभ्यता की रचना मनुष्य के द्वारा होती है, वह मनुष्य के मन और इच्छा की विजय है। इस आणविक क्रान्ति को ही लीजिए। यह मनुष्य के विशाल प्रयत्नो की कहानी है, वैज्ञानिक कौशल और आदर्शों के निमित्त वाञ्छित नयी शक्ति की प्राप्ति के लिए यह एक जागरूक अनुसन्धान का परिणाम है। यह मानवकृत है। इतिहास भाग्य नही है, जो अटल हो। इतिहास के सामने सदा ठोस विकल्प रहते है। हम उन विकल्पो मे से चुनाव कर सकते है। हमारा चुनाव गलत भी हो सकता है और सही भी। यदि हम समझदारी से चलें तो यह महान् प्रौद्योगिक क्रान्ति सबको समृद्धि और शान्ति के राजमार्ग पर ले जाएगी, और यदि हमने नासमझी दिखाई, तो यही क्रान्ति हमारी समस्त आशाओ, ससार के समस्त जीवन को निःशेष कर देगी। हमारे युगयुगीन लोक सग्रह के स्वप्न के साकार होने मे जो चीजें बाधक होती है, वे है हमारे पुराने तरीके और पुराने मूल्यो तथा रीति-नीतियो के प्रति हमारी निष्ठाए। हम अपनी दशा को जानते है। जब मनुष्य अपने प्रारब्ध से परिचित हो जाता है तब उसका प्रारब्ध समाप्त हो जाता है, फिर वह

अपने असली रग मे आता है और अपने भविष्य का उत्तरदायित्व स्वय सभाल लेता है।

कुछ भी हो, यह सगठन (यूनेस्को) यह जानता है कि हम कहाँ गलती कर रहे है, हमारी क्या कमिया है। यदि यह ज्ञान तीव्र हो उठे तो इससे हमे अपनी हार्दिक इच्छा के अनुसार अपने भविष्य का स्वरूप निर्धारित करने मे सहायता मिल सकती है। कुछ ऐसे आवश्यक कदम है जो सभी राज्यो को उठाने चाहिए, जैसे—(१) सदियो से जिन सैनिक उपायो का उन्होने अवलम्बन किया है, उनमे आस्था करना छोड दे। हम अब भी उसी सिद्धान्त का पालन करते जान पडते है, क्योकि उन्नतिशील देश यह अनुभव करते है कि जव तक वे उद्‌जन वम नही वना लेते तव तक उनका सम्मान नही हो सकेगा। आज ससार की उच्च शक्तियो मे एक घृणास्पद प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई है। प्रत्येक शक्ति यह दिखा देना चाहती है कि इन अस्त्रो को वनाने की दौड मे वही सबसे आगे है। वे शक्तिशाली देश भूल जाते है कि लडाई के तरीके इतने बदल चुके हैं कि आज हार और जीत मे बहुत अन्तर नही रह गया है। आणविक युद्ध मे जीतने जैसी कोई वात है ही नही। यदि कोई राष्ट्र आणविक युद्ध का श्रीगणेश करता है तो यह उसकी एक दु खद भूल होगी, क्योकि आणविक युद्ध का अर्थ है युद्ध मे भाग लेने वाले सभी देशो का पारस्परिक सहार। किन्तु हम फिर भी इन पैशाचिक अस्त्रो का निर्माण करते जा रहे है और मानव जाति पर भय के काले बादल घिरते जा रहे है। यदि हम यह समझते है कि इन अस्त्रो की विनाशकारी शक्ति का भय ही हमे इनका प्रयोग करने से रोकता रहेगा, तो हम अपने-आपको धोखा दे रहे है। घृणा से भी अधिक डरावनी वस्तु है भय। कोई राष्ट्र इम भय से कि एक दूसरा शत्रु राष्ट्र कही उस पर पहले इन अस्त्रो का प्रयोग न कर दे, इस आशा मे इनका स्वय प्रयोग कर दे सकता है कि इस प्रकार से वह अपना विनाश रोक लेगा। हमे यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आणविक अस्त्रो का निर्माण करके हम एक भारी इन्द्रजाल से खेल रहे है, हम स्वय को भारी भ्रम मे रख रहे है। अब तो दो मे से एक ही रहेगा—युद्ध या मनुष्य। यदि युद्ध का भविष्य है तो मानव जाति का भविष्य समाप्त समझना चाहिए।

यदि मानव जाति को रहना है, तो युद्ध की सम्भावना को सदा के लिए विदा लेनी होगी।

(२) राष्ट्रवाद को विश्व-निष्ठा के अधीन होकर रहना चाहिए। पाचवी शती ई० पू० के एक चीनी विचारक मो-त्जू ने तत्कालीन चीन की अशान्त स्थिति का वर्णन जिन शब्दो मे किया है वे हमारी आज की विषम अवस्था के साथ अप्रासगिक नही है। चोर भी अपने परिवार को प्यार करता है और अपने प्रेम के लिए वह सोचता है कि वह दूसरे परिवारो का विनाश कर सकता है और उनको ठग सकता है। एक रईस अपने खानदान को प्रेम करता है और दूसरे खानदानो का दुरुपयोग करने और उनका शोषण करने मे कोई अनौचित्य नही अनुभव करता। एक बडा जागीरदार अपनी जागीर को प्यार करता है, परन्तु दूसरे जागीरदारो को अपशब्द बकना वह बुरा नही समझता। आज राष्ट्रीय राज्य ने हम पर कब्जा जमा रखा है। राष्ट्रवाद तभी तक एक उपयोगी शक्ति रहता है जब तक वह जनता को कर्त्तव्य के उच्चादर्शों के लिए, सार्वजनीन कल्याण की लगन के लिए और सार्वजनिक हित के निमित्त त्याग करने के लिए प्रेरित करता रहता है। किन्तु यदि राष्ट्रवाद हमे गलत रास्तो पर ले जाता है, यदि वह हमे अनुभव कराता है कि अपना देश चाहे उचित कर रहा हो या अनुचित, हर हालत मे उसका समर्थन किया जाना चाहिए, तो उसकी जितनी निन्दा की जाए उतनी थोडी। हम एक ऐसी अवस्था मे पहुच गए है जब केवल राष्ट्रवाद से काम नही चल सकता। हमारी आवश्यकताएं और समस्याए बीसवी शताब्दी की है। हमारी निष्ठा सम्पूर्ण मानवता के प्रति होनी चाहिए। हमे यह अनुभव होना चाहिए कि राष्ट्रीय हितो को क्षति पहुचाकर यदि मानवता को बचाया जा सकता हो, तो राष्ट्रीय हितो की कोई परवाह न की जाए। हमारी राष्ट्रवादी निष्ठा के कारण संसार की आध्यात्मिक एकता भंग नही होनी चाहिए।

(३) हमे व्यक्तिगत और सामूहिक अभिमान और अहकार को तिलाञ्जलि दे देना चाहिए। मानव-इतिहास मे सारी बुराइयों की जड यह अभिमान ही है कि हम संसार मे सर्वश्रेष्ठ है और नियता ने हमे यह

उत्तरदायित्व सौपा है कि हम दूसरो को भी अपनी जीवन-पद्धति पर ढालने की चेष्टा करे। यूनानी कवि हुब्रिस (Hubris) के अनुसार, व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दु खो का मूल कारण है अभिमान करने की धृष्टता। यह अभिमान का ही प्रतिफल था कि मिस्र के फरोहो (बादशाहो) यूनान के शासको, फारस के बादशाहो, बगदाद के खलीफाओ तथा मध्य-कालीन रोम के पोपो को मुंह की खानी पडी। अभी हाल के कुछ उदाहरणो का उल्लेख तो मैं आवश्यक नही समझता। केवल उद्दण्ड व्यक्ति ही यह विश्वास करते है कि शेष लोगो पर शासन करने का विवेक और योग्यता केवल उन्ही के पास है जो अभिमान नम्रता के आवरण मे छिपा होता है, वह तो और भी भयकर होता है। जो लोग बहुत समय तक जान बूझकर महान् यथार्थ तथ्यो, मनुष्य की प्रतिष्ठा, मानव-मानव की समानता और सभी लोगो के लिए स्वतत्रता के अधिकार की हठपूर्वक उपेक्षा करते रहते है, उनको विधाता किसी न किसी प्रकार पाठ पढा देता है।

आज हममे विनम्रता की भावना होनी चाहिए। हमे इस प्रकार का रुख छोड देना चाहिए कि हम सही है और हमारे विरोधी गलती पर। हमे यह मनोवृत्ति भी त्याग देनी चाहिए कि हम भले ही पूर्ण नही है, पर हम अपने शत्रुओ से तो निश्चित रूप से अच्छे है। ऐसा जान पडता है कि वर्षो के सामूहिक हत्याकाण्ड के कारण हम कठोर हो गए है और भयानक से भयानक परिस्थिति हमे भयभीत नही कर पाती। गत सप्ताह की घटनाए सूचित करती है कि हम अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धो मे सब प्रकार के सौजन्य गवा चुके है। जो लोग अपने को सबसे अधिक सभ्य होने का दावा करते है, उनमे बर्बरता और जो लोग पिछडे हुए कहे जाते है उनमे सभ्यता की अधिक मात्रा दिखाई देती है। एक समय ऐसा था, जब बाहर से आए बर्बर आततायियो ने हमारी सभ्यता का विनाश किया, किन्तु इस युग मे तो हमे अपनी भीतरी बर्बरता से, जिसको हम पाल रहे है, सभ्यता के विनाश की सम्भावना दिखाई दे रही है। प्रौद्योगिक क्रान्ति से मेल बैठाने के लिए हमे एक नैतिक क्रान्ति करनी है। हमे नए मानवीय सम्बन्धो का विकास करना चाहिए, राष्ट्रो के बीच बौद्धिक सहयोग और नैतिक एकता

लाने की चेप्टा करनी चाहिये, और 'यूनेस्को' का भी मुख्य उद्देश्य यही है। सभी सरकारो को हृदय और अन्तरात्मा का विकास भी करना चाहिए, उन्हे यह अनुभव करना चाहिए कि हम सभी एक बिरादरी के सदस्य है जिसमे प्रजाति और वर्ग का कोई विभेद नही है।

'यूनेस्को' ने विश्व-चेतना के विकास मे बडा योगदान दिया है। एक उदाहरण लीजिए, 'यूनेस्को' के एक विशेपज्ञ-दल ने घोषणा की है कि मनुष्य के द्वारा जो भी कार्य किए जा सकते है, उनको करने के लिए कोई भी प्रजाति वास्तविक या काल्पनिक क्षमता की दृष्टि से न तो किसी प्रकार हीन है और न प्रजाति के आधार पर उसके लिए अनुपयुक्त ही मानी जा सकती है। उपनिवेशवाद इस धारणा के आधार पर दूसरो पर शासन करने का अपना अधिकार समझता है कि अनुन्नत तथा अशिक्षित लोगो को सभ्य नही बनाया जा सकता। ज्ञात या अज्ञात रूप से संसार के कई अग्रणी देशो मे एक बडप्पन की भावना है, वे अन्य देशों की अपेक्षा अपने को श्रेप्ठ समझते है।

यदि विश्व-निष्ठा की भावना को प्रोत्साहित करना है तो हमे जीवन की अन्य परम्पराओ को भी समझना चाहिए और उनकी सराहना करनी चाहिए। बहुत समय से यह देश कई सस्कृतियो का मिलन-स्थल रहा है। आर्य और द्रविड, हिन्दू और बौद्ध, यहूदी और पारसी (जोरोस्ट्रियन), इस्लामी और ईसाई सस्कृतियाँ यहा समय-समय आयी और परस्पर घुल-मिल गयी। अब चूँकि ससार सिमट कर छोटा होता जा रहा है, इसलिए हमे सभी प्रजातियो और सस्कृतियो के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए। यदि हम एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह जानना चाहते हैं, तो हमे अपने एकाकीपन और श्रेप्ठता की अपनी भावना को त्याग देना चाहिए और यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि दूसरी सस्कृतियो का दृष्टिकोण भी उतना ही ठीक है, उनका प्रभाव भी उतना ही शक्तिशाली है जितना कि हमारी अपनी सस्कृति का। मानव जाति के इतिहास के इस नाजुक क्षण मे हमे मानवीय प्रकृति को पुनः रूपान्तरित करना है। इस सम्बन्ध मे 'यूनेस्को' पूर्व और पश्चिम मे सहानुभूति बढाने की दिशा मे, जो बहुमूल्य कार्य कर रहा है, उसकी हम प्रशसा करते है।

आज भी पूर्वी यूरोप, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका मे अशान्ति और सघर्ष की स्थिति उपस्थित है। जबकि संसार को दूसरे महायुद्ध की भट्टी मे झोकने का खतरा पूरी तरह दूर नही हुआ है, तब हमे विनम्रता और पक्षपातहीनता से कार्य करना चाहिए। हमे यह दिखा देना चाहिए कि जैसे व्यक्ति कभी-कभी नि.स्वार्थ भाव से भी कार्य करते है, वैसे ही राष्ट्र भी यदा-कदा स्वार्थरहित होकर आचरण कर सकते है, और यह सर्वथा स्वाभाविक है। भविष्य की सुरक्षा के लिए युद्ध लोगो के मनो और हृदयो मे जीता जाना चाहिए। हममे से प्रत्येक को अपना मन ऐसा बना लेना चाहिए जो दूसरो के दृष्टिकोण को सहानुभूति से समझ सकता हो, हमारा हृदय ऐसा होना चाहिए जो दूसरो के दु ख से द्रवित हो सके, जिसमे अपना ही सुख-दु ख नही, दूसरो का सुख-दु ख भी अट सके। मैं आपको विश्वास दिलाता हू कि यदि हम ऐसा कर सके तो राष्ट्रो के मध्य युद्ध भी उसी प्रकार विलुप्त हो जाएगे जिस प्रकार आजकल व्यक्तियो के मध्य द्वन्द्व-युद्ध की प्रथा विलुप्त हो चुकी है।

हम इस देश और इस नगर मे 'यूनेस्को' के साधारण सम्मेलन का स्वागत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहे है और हम सदस्यो को विश्वास दिलाना चाहते है कि अधिवेशन की सफलता के लिए हमारी सर्वोत्तम शुभकामनाए उन्हे प्राप्त है।

शान्ति का आधार सद्भावना है*

इस महान् विश्वविद्यालय के शताब्दी-समारोह के इस ऐतिहासिक अवसर पर दीक्षान्त-भाषण करने के लिए मुझे आमन्त्रित करके आपने मेरा जो सम्मान किया है, उसकी मैं सराहना करता हूं। मैं विश्वविद्यालय से किसी न किसी रूप मे ३५ वर्षों से भी अधिक से सम्बन्धित रहा हू। विश्वविद्यालय के एक पुराने सदस्य के रूप मे, मैं नये स्नातको का, जिन्होने कला और विज्ञान, साहित्य और कानून मे विशेष योग्यता प्राप्त की है, स्वागत करता हू। मै कैसे बताऊ कि हम अपनी अधिसदस्यता (fellowship) मे उनके सम्मिलित होने पर कितने हर्षित हुए है! यह समारोह इस विश्वविद्यालय की जो सदा से ससार के विश्वविद्यालयों के सम्पर्क मे रहा है सर्वोत्तम परपराओ की हा एक कडी है। इसने अपने छात्रों को उन विश्वविद्यालयो मे उच्चतर शिक्षा एव प्रशिक्षण के लिए भेजा है और उनके विद्वानो को अपने अध्यापक मण्डल मे सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया है। कला और साहित्य, विज्ञान और ज्ञान भौगोलिक सीमाओ मे आबद्ध नही होते; वे राजनीतिक भावावेशो से ऊपर होते है। राजनीतिक मतभेद मनुष्य को अलग-अलग कर सकते है किन्तु व्यावसायिक सहकार मनुष्य को एक करता है।

बगाल मे अपने शासन के प्रथम दो युगो तक तो ईस्ट इण्डिया

---

* कलकत्ता विश्वविद्यालय के शताब्दी दीक्षान्त-समारोह मे भाषण—२३ जनवरी, १९५७।

कम्पनी ने आधुनिक शिक्षा प्रणाली को प्रचलित नही किया । इसका एक कारण था। उस काल का एक अग्रणी और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति वारेन हेस्टिंग्स् भारत के उत्कृष्ट साहित्य एव शास्त्रो का निष्कपट प्रशसक था और उसने भारत की प्राचीन देशीय सस्कृति को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा भी की थी। भारत स्थित ब्रिटिश नेता भारतीय जनता के मन मे उद्वेग पैदा करना नही चाहते थे, इसलिए उन्होने भारतीयो को अपनी प्राचीन विद्या और विचार-पद्धतियो का अभ्यास करने के लिए स्वतत्र छोड दिया। आधुनिक विद्याओ मे शिक्षा देने की प्रेरणा ईसाई मिशनरियो और डेविड हरे तथा राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील नेताओ की ओर से हुई। जब मैकॉले सार्वजनिक शिक्षा-विभाग का अध्यक्ष हुआ, तब उसने फरवरी सन् १८३५ मे अपना प्रसिद्ध शिक्षा सम्बन्धी विवरण तैयार किया । लॉर्ड विलियम बेंटिक ने मैकॉले के परामर्श को स्वीकार कर लिया। उसने आदेश दिया कि शिक्षा-सम्बन्धी कार्यो पर जितना भी रुपया व्यय होगा, वह सब मुख्यत उन्ही स्कूलो और कॉलेजो को चलाने पर होगा, जो अग्रेजी के माध्यम से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने के लिए स्थापित किए गए होगे। सार्वजनिक शिक्षा के लिए विभागो की स्थापना सन् १८८५ मे और विश्वविद्यालयो की स्थापना सन् १८५७ मे हुई।

प्रारम्भिक वर्षो मे इस विश्वविद्यालय के नियत्रण मे भारत के एक बडे भाग की कॉलेजीय शिक्षा थी । बगाल, बिहार, उडीसा, असम, तत्कालीन सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त तथा ब्रह्मदेश और श्रीलका तक के कॉलेज कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा ही नियत्रित थे। धीरे-धीरे अन्य विश्वविद्यालय भी खुल गये और इस विश्वविद्यालय का कार्य-क्षेत्र सीमित होता गया। ये विश्वविद्यालय जब पहले पहल स्थापित हुए तब ये कॉलेजो को अपने से सम्बद्ध करते थे, क्योकि ये मात्र परीक्षा लेने वाले सगठन थे। हमे स्वर्गीय श्री आशुतोष मुखर्जी के साहसपूर्ण और बहुमुखी नेतृत्व को धन्यवाद देना चाहिए, क्योकि उन्ही के सद्प्रयत्न से कला और विज्ञान (सैद्धान्तिक और प्रायोगिक) मे स्नातकोत्तर विभाग इस विश्वविद्यालय के सीधे नियत्रण मे प्रारम्भ किये गये। विश्वविद्यालय की प्रारम्भिक मुद्रा

पर विद्या की उन्नति सम्बन्धी जो सूक्ति अंकित थी, वही अब इसका प्रधान लक्ष्य बन गयी ।

इस विश्वविद्यालय ने महान् वैज्ञानिको और श्रेष्ठ विद्वानोको उत्पन्न किया है । हम लोगो के समय मे रॉयल सोसाइटी के जो नौ अधिसदस्य (Fellows) निर्वाचित हुए थे, उनमे से पाच इस विश्वविद्यालय मे कार्य कर रहे थे । वे थे—जगदीशचन्द्र बोस, चन्द्रशेखर व्यकट रमण, मेघनाद साहा, कृष्णन् और महालनोबिस । साहित्य और भौतिक विज्ञान मे नोबेल पुरस्कार-विजेता श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री सी० वी० रमण इसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे । इस विश्वविद्यालय से निकले हुए कई विद्वानो और वैज्ञानिको ने अपने विशुद्ध विचार और विद्यानुराग के बल पर साहित्य एव कला, विज्ञान और ज्ञान के क्षेत्र मे विशिष्ट योगदान दिया है ।

यदि हम ससार के इतिहास की ओर दृष्टिपात करे, तो हम देखेंगे कि सभ्यता का निर्माण उन भविष्यद्रष्टा सिद्धो और वैज्ञानिको के द्वारा हुआ है जो स्वतत्र रूप से विचार करने मे समर्थ है तथा जो स्थान और काल की गहराइयो मे पैठकर उनके रहस्यो को जानने की चेष्टा करते है और इस प्रकार उपलब्ध अपने ज्ञान का सदुपयोग वे विश्व-श्रेयस् एव लोककल्याण के लिए करते है । विश्वविद्यालय मनुष्य की अविजेय आत्मा मे विश्वास करते है अत उन्हे अपने विद्वान् एव पण्डित प्राध्यापको को अपना अध्ययन बढाने के लिए पूरी-पूरी सुविधा देनी चाहिए तथा उनको किसी प्रकार का क्लेश नही पहुचाना चाहिए । विश्वविद्यालयो को चाहिए कि वे अपने प्रत्येक विद्वान को उसकी रुचि के विषय की सीमाओं के भीतर, पूरी सुविधाए प्रदान करें ताकि वह अपनी बुद्धि, कल्पना और एकनिष्ठता के अनुसार अपने ढग से सत्यान्वेषण कर सके । यदि कोई स्वतन्त्रता मन की स्वतन्त्रता नही प्रदान करती तो उसे वास्तविक स्वतन्त्रता नही कहा जा सकता । सत्यान्वेषण के कार्य मे किसी धार्मिक सिद्धान्त या राजनीतिक मतवाद का हस्तक्षेप नही होना चाहिए ।

इस विश्वविद्यालय ने गत सौ वर्षो मे इस देश की जनता के सामने विचारो का एक नया ससार खोल दिया है, नवीन ज्ञान-क्षितिजो का

विकास करने मे सहायता की है, महान् उद्देश्यो का समर्थन किया है, विचार और जीवन के नये आन्दोलनो को उत्पन्न किया है तथा राजनीतिक एव आर्थिक, धार्मिक एव सामाजिक स्वतत्रता के विस्तार मे सहायता पहुचायी है। गत एक शताब्दी मे हमारे देश मे जो सास्कृतिक पुनर्जागरण हुआ है, वह आधुनिक विचारो के प्रभाव से और हमारी प्राचीन विद्या की समीक्षा से सम्भव हो सका है। जब हम छात्रो को विश्वविद्यालय मे प्रशिक्षित करते हैं, तब यह स्वाभाविक है कि वे राजनीतिक स्वतत्रता और आन्तरिक लोकतत्र की माँग करे। भारत मे आने से पूर्व मैकॉले ने ब्रिटेन की लोक सभा मे कहा था—

"क्या हम भारत की जनता को इसलिए अज्ञानान्धकार मे रखना चाहते है कि वह हमारे अधीन बनी रहे! या, हम यह सोचते है कि हम उसको ज्ञान तो दे, परन्तु उसमे महत्त्वाकाक्षा अँगडाई न ले? या, हमारा मन्तव्य यह है कि हम उसमे महत्त्वाकाक्षा तो जगावे, परन्तु उसकी पूर्त्ति का कोई वैधानिक मार्ग न खोले? यह सभव है कि हमारी शासन पद्धति के अन्तर्गत रहते-रहते भारत का लोकमानस इतना विकसित हो जाय कि यह पद्धति उसके लिए अनुपयुक्त हो उठे, यह भी सभव है कि अच्छे प्रशासन के द्वारा हम अपनी प्रजा को इतना शिक्षित कर दे कि उससे अच्छे प्रशासन के सचालन की क्षमता उसमे उत्पन्न हो जाय, यह भी हो सकता है कि यूरोपीय ज्ञान की शिक्षा पाकर, वह भविष्य मे कभी यूरोपीय सस्थाओ की माग करने लगे। ऐसा दिन कभी आएगा या नही, यह मै नही जानता। किन्तु जब कभी वह दिन आया, अग्रेजी इतिहास का वह सबसे गौरवपूर्ण दिन होगा। · हमारे हाथ से राजदण्ड निकल जा सकता है। हमारे अस्त्र-शस्त्र हमे भले ही निरन्तर विजय-श्री न प्राप्त करावे, किन्तु ऐसी भी विजय होती है जिसके बाद पराजय नही होती। एक ऐसा भी साम्राज्य है जो ह्रास के सभी प्राकृतिक कारणो से परे है। यह विजय है वर्बरता के ऊपर विवेक की शान्तिपूर्ण विजय और वह साम्राज्य है हमारी कलाओ, हमारे नैतिक आदर्शो, हमारे साहित्य और हमारे अधिनियमो का अविनाशी साम्राज्य।

जब हम देश के युवको को ऐसी शिक्षा देगे जिसमे स्वतत्रता पर

विद्रोह के अधिकार पर बल दिया गया हो, जिसमे यह बताया जाता हो कि सरकार का कर्त्तव्य शासित की स्वीकृति से शासन करना है, तब वे पराधीनता से स्वतंत्र होने की माँग अवश्यमेव करेंगे। इस विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातकों मे से एक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने हमे वन्देमातरम् गीत दिया जिसमे भारत की गहरी धार्मिक आस्था को आत्मसमर्पण की प्रतिज्ञा के साथ राष्ट्रीय हित के निमित्त नियोजित किया गया है। देश के युवकों का धर्म राष्ट्रीयता बन गयी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमें 'जन गण मन' वाला राष्ट्रीय-गीत दिया जो सर्वप्रथम इसी नगर मे २७ दिसम्बर, १९११ को कॉंग्रेस के महाधिवेशन मे गाया गया था। भारत की संविधान परिषद् ने २४ जनवरी, १९५० को इस गीत को राष्ट्र-गीत के पद पर प्रतिष्ठित किया। इस गीत मे इस देश को एक माना गया है; इसमें हमसे माग की गयी है कि हम अपनी आध्यात्मिक शक्तियो को इस देश की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के लिए प्रयोग करें।

जब देश मे अशान्ति और असन्तोष फैलने लगे, जो आधुनिक शिक्षा के स्वाभाविक परिणाम थे, तब श्री ऐलन ऑक्टेवियन ह्यूम ने एक राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने का निश्चय किया, जो उस अशान्ति और असन्तोष को रोक सके। उन्होने इस विश्वविद्यालय के स्नातकों के बीच १ मार्च, १८८३ को भाषण करते हुए कहा कि मुझे लगन और साहस वाले ५० व्यक्तियो की आवश्यकता है। "यदि केवल ५० अच्छे और सच्चे व्यक्ति इस संस्था के संस्थापक बनने के लिए प्राप्त हो जाय, तो यह संगठन बन जाय। आगे की बाते तो अपेक्षाकृत सरल हो जाएँगी।" उन्होंने स्नातकों से स्पष्टतया कहा—"यदि वे अपनी निजी सुख-सुविधा को त्याग नही सकते, तो इस समय उनकी उन्नति की समस्त आशाएँ समाप्त समझनी चाहिए, फिर यह मान लेना होगा कि भारत आजकल की सरकार से बढिया सरकार का न तो इच्छुक है, न उसके योग्य ही।" श्री ह्यूम ने यह शाश्वत सत्य कहा कि 'आत्म-बलिदान और निस्स्वार्थता ही किसी को स्वतन्त्रता और सुख की मंजिल तक पहुंचा सकते हैं।' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली बैठक बम्बई मे हुई जिसके अध्यक्ष बंगाल के एक प्रसिद्ध नेता श्री उमेश चन्द्र बनर्जी थे। कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजो

की सदेच्छा मे विश्वास के साथ हुई थी और भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड डफरिन ने उसको अपने आशीर्वाद दिये थे। लॉर्ड कर्जन ने जब बगाल का विभाजन कर दिया, तब अग्रेजो के प्रति लोगो का विश्वास छिन्न-भिन्न हो गया। इसके बाद जो क्षोभ की लहर उठी, उसने लोगो की राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध कर दिया। फिर क्या था, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी प्रचार, विदेशी मालो का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, लोकमत का सगठन और अन्य प्रकार के राजनीतिक कार्य जनता ने अपना लिए। इनको बाद मे गाधी जी ने पूर्णता प्रदान की। दिसम्बर, १९०६ मे कलकत्ता काग्रेस मे, दादाभाई नौरोजी ने भारतीय जनता का लक्ष्य 'स्वराज्य' घोषित किया। जब वग-भग रद्द कर दिया गया, तब अग्रेजो मे लोगो का विश्वास पुन बढ गया। प्रथम महायुद्ध मे भारत ने ब्रिटिश सरकार की पुकार पर उदारतापूर्वक युद्ध-प्रयासो मे इस आशा से सहायता दी कि जो युद्ध ससार मे लोकतत्र को सुरक्षित बनाने के लिए लडा जा रहा है, उसमे विजय पाने का यह परिणाम तो होगा ही कि भारत को स्वशासन का अधिकार मिल जाएगा। जब युद्ध समाप्त हुआ, तब भारत की आशाएँ पूर्ण नही हुई। भारत ने सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण किया जिस की परिणति सन् १९४७ के सत्ता-हस्तान्तरण मे हुई। इस विश्वविद्यालय ने असाधारण साहस और सहनशीलता-सम्पन्न व्यक्तियो को उत्पन्न किया है, जिन्होने राजनीतिक सघर्ष मे भाग लिया और अतुलनीय बलिदान किये। कई वीर नर-नारियो ने, जिनमे कुछ अभी तक जीवित है और कुछ दिवगत हो चुके है, प्रतिगामी और निरकुश अत्याचारी शक्तियो का विरोध किया। आज हम सुभाषचन्द्र बोस का ६१वा जन्म-दिवस मना रहे है। बगाल के प्रतिभाशाली लोग आज भले ही नैराश्यग्रस्त हो, किन्तु मुझे कोई सन्देह नही कि वे विरोध और प्रतिरोध करते रहेगे, और पीडा सहन तथा बलिदान की वही भावना तब तक प्रदर्शित करते रहेगे जब तक शोषण और अन्याय के स्थान पर न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था नही स्थापित हो जाती।

भारत की राजनीतिक स्वतत्रता न केवल उसके अपने लिए है, वरन् ससार के हित के लिए है। गाधी जी ने एक बार कवीन्द्र रवीन्द्र को लिखा

था—"यूरोप के चरणो पर साष्टाग दण्डवत् करता हुआ भारत मानवता को कोई आशा नही वँधा सकता किन्तु, जागृत और स्वतत्र भारत के पास पीडा से कराहते हुए विश्व के लिए शान्ति और सद्भावना का एक सन्देश है।" हम ससार को इस योग्य वनाने को उत्सुक है कि उसमे सभ्यता सुरक्षित रह सके। हमारी दृढ मान्यता है कि जव युद्ध की सर्वनाशकारी शक्तिया इतनी अधिक बढ चुकी है, तव वर्तमान परिस्थिति मे शान्ति के अतिरिक्त मानव-जाति के पास कोई अन्य मार्ग नही है। जव ससार दो दलो मे वँट गया है, जिनके पास अणु-शस्त्रो का भारी भण्डार है, जिसका उपयोग ससार के विनाश के लिए हो सकता है, तव किस क्षण वह सकट-पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, यह कहना कठिन है।[1]

---

१ हवाई युद्ध के एक वड़े विशेषज्ञ सर जॉन स्लेसर का कथन है—

"आज के दिन और इस युग मे विश्व-युद्ध छिडने का अर्थ होगा—सर्वसाधारण की आत्महत्या। 'युद्ध के किसी विशेष आयुध' को समाप्त कर देने की चेष्टा न तो इसके पहले कभी सफल हुई है और न आगे वैसी चेष्टा करने मे कोई तुक है। जिस चीज को हमको समाप्त करना है, वह युद्ध है"—'दि लिसेनर,' ११-२-१९५४।

ब्रिटिश एसोसिएशन के अध्यक्ष लार्ड ऐडिअन ने एसोसिएशन की आक्सफोर्ड मे हुई ११६वीं वार्षिक बैठक मे कहा—"इस वात की वडी सभावना है कि वार-वार जो अणुवम-परीक्षण हो रहे हैं, उनसे वायुमण्डल मे रेडियम धर्मिता इतनी वढ जाएगी जिसको न तो कोई सहन कर पायेगा और न जिससे कोई वच ही पाएगा।" उन्होंने आगे कहा है—"जव तक हम कुछ देशो को दिए हुए अपने पुराने रक्षात्मक आश्वासनो को त्यागने के लिए प्रस्तुत नहीं होते, तव तक यह सभावना वनी रहेगी कि हम किसी ऐसे युद्ध मे उलझ जायँ जो मानव जाति की ही समाप्ति कर दे।"

'एयर चीफ मार्सल' सर फिलिप जोवर्ट कहते हैं—"उद्जन वम के आविष्कार के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया है कि मानव जाति एक ऐसे स्थल पर पहुँच गई है जहाँ उसे या तो नीतिवश युद्ध का परित्याग

किन्तु, भविष्य हमारे हाथो मे है। यदि परमार्थ की वात छोड दे, तो इसमे हमारा शुद्ध स्वार्थ भी है कि हम ससार को विक्षुब्ध बनाने वाली पारस्परिक तनातनी को कम करने की चेष्टा करे और ससार जिस शील तथा मैत्री को भूल गया प्रतीत होता है, उनकी स्थापना उसमे फिर से करे। हमको आध्यात्मिक शक्तियो का निर्माण और विकास करना चाहिए, क्योकि लोगो की विनष्ट आशाओ और उपेक्षित नैतिक मूल्यो को वही शक्तियाँ पुनरुज्जीवित कर सकती है। हमे यह समझ लेना चाहिए कि पारस्परिक घृणा पारस्परिक हिंसा से भी अधिक भयकर, प्राणान्तक होती है। हमे विश्वविद्यालय की भावना को अपनाकर मानवीय प्रकृति को सभ्य बनाना चाहिए। विश्वविद्यालय की अन्तर्निहित भावना उन्माद के समय बुद्धि को सतुलित रखने की प्रेरणा देती है, असयम के स्थान पर सयम रखने को कहती है, और दलीय नारेबाजी के आगे सरलता से घुटने टेक देने की अपेक्षा वह विचार की दृढता पर बल देती है।

यदि ससार को ऐक्य-सूत्र मे आवद्ध होना है, तो विभिन्न राष्ट्रो के लोगो को यह अवगत कराना चाहिए कि कौन-कौन-सी बाते उनमे समान रूप से मिलती है। ससार मे राजनीतिक एकता व्यवहारत स्थापित हो सके, इसके पूर्व उसमे सास्कृतिक एकता स्थापित होनी चाहिए। कलह का न होना ही शान्ति नही है, और न बन्दूको की चुप्पी शान्ति कहलाती है। कलह की अनुपस्थिति तो नकारात्मक है, वह भयावह है, वह किसी भी क्षण छिन्न-भिन्न हो सकती है। शान्ति का तात्पर्य है दूसरो के प्रति सद्भावना होना। जो लोग हमारी प्रजाति के नही है, भिन्न धर्मावलम्वी है, उनके प्रति सहानुभूति होना ही शान्ति का आधार है। शान्ति यह है कि हम उन लोगो की भी भावनाओ की सराहना करें जिनकी पूजा-पद्धति हम लोगो से भिन्न है। इसी का नाम सद्भावना है, इसी का नाम शान्ति है।

सन् १८३१ मे राममोहन रॉय ने फ्रास के परराष्ट्र मत्री को लिखा था—"अब यह सामान्यतया स्वीकार किया जाने लगा है कि केवल धर्म ही नही, निष्पक्ष सामान्य-बुद्धि और वैज्ञानिक शोध के सटीक निष्कर्ष भी

त्याग कर देना पडेगा, या उसे सपूर्ण सहार की सभावना को स्वीकार करना होगा।"

इस निर्णय पर पहुँचे है कि समस्त मानव जाति एक विशाल परिवार है और वर्तमान विभिन्न राष्ट्र तथा जातियाँ उसकी ही शाखाएँ है। अतः सभी देशो के समझदार लोग यह अनुभव करते है कि एक राष्ट्र के लोगो को दूसरे राष्ट्र के लोगो से मिलने-जुलने मे जो भी रुकावटें है, उनको यथासभव दूर किया जाए और उनके परस्पर आवागमन को हर प्रकार से प्रोत्साहित किया जाय और इसके लिए उनको सुविधा प्रदान की जाय, ताकि समस्त मानव जाति इस आदान-प्रदान से परस्पर लाभान्वित हो सके और उसके आनन्द मे वृद्धि हो सके।" विश्व-बन्धुत्व की यह भावना आदि काल से ही भारतीय विचारधारा की एक प्रमुख विशेषता रही है। भारतीय सस्कृति की आत्मा स्वीयकरण और सश्लेषण की रही है, निषेध और अलगाव की नही। आर्य और द्रविड, हिन्दू और बौद्ध, मुसलमान और ईसाई—ये सभी भारतीय इतिहास मे घुल मिल गए है। हम दूसरो से सीखने के लिए सदा उद्यत रहते है, किन्तु हम किसी के अधीन बनकर नही रहना चाहते। हममे यह मिथ्याभिमान नही है कि भारतीय सस्कृति अपने-आप मे पूर्ण है और उसको किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नही। हम अपना व्यक्तित्व खोए बिना, दूसरी सस्कृतियो मे जो कुछ मूल्यवान है, उसे ग्रहण कर लेते है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्व-सहयोग के युग का उद्घाटन किया था। उन्होने ससार के विभिन्न भागो की, पूर्वी और पश्चिमी देशो की यात्रा की और लोगो को सहिष्णुता, विश्व-बन्धुत्व और सहानुभूति का सन्देश दिया था। सास्कृतिक सहयोग मे उनकी जो आस्था थी, उसका साक्ष्य हमे उनकी 'विश्व-भारती' से मिलता है।

महात्मा गान्धी ने राष्ट्रीय स्वशासन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की परिभाषा देते हुए एक बात बडे विवेक की कही थी; उसको चेतावनी भी समझा जा सकता है। उन्होने कहा था—"राष्ट्रीयता के विषय मे मेरा यह विचार है कि मेरा देश स्वतन्त्र हो जाय, और यदि आवश्यकता पडे, तो मानव जाति को जीवित रखने के लिए मेरा सारा देश भले ही मर जाय। यहाँ जाति-विद्वेष के लिए कोई स्थान नही है। हमारी राष्ट्रीयता का यही स्वरूप होना चाहिए।" शारीरिक रूप से जीवित

बचे रहना ही सब कुछ नहीं है, आत्मा की अखण्डता अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो लोग 'क्रॉस' की पूजा करते है, वे जानते है कि भौतिक पराजय और मृत्यु मनुष्य को आध्यात्मिक विजय के योग्य बनाती है।

विश्वविद्यालय शान्ति-स्थापना की दिशा मे बहुत प्रभावकारी कार्य कर सकते है। राजनीति तत्काल की कला है। राजनीतिज्ञता इस बात पर निर्भर करती है कि राजनीतिज्ञ के विचारो मे कितनी दूरदर्शिता और कितनी गम्भीरता है। विश्वविद्यालय और विद्वत्-समाज ही ऐसे विचारो की प्राप्ति मे हमारी सहायता कर सकते है। विश्वविद्यालयो को ज्योतिप-विज्ञान और अध्यात्म-विद्या तथा विश्व-इतिहास के पठन-पाठन की व्यवस्था करनी चाहिए। उन्हे हमको समत्व बुद्धि और समदर्शिता का पाठ भी पढाना चाहिए, क्योकि वे ससार को एक समाज मानकर चलते है और ऐसे नैतिक मूल्यो पर बल देते है जो समस्त विश्व के लिए व्यवहार्य हो तथा जो राष्ट्रीयता की सकुचित सीमा का अतिक्रमण कर गए हो। वे राष्ट्रीय समूहो को भी स्थिर सतुलन मे रखने का प्रयत्न करते है। विश्वविद्यालय हमको ज्ञान एव निष्पक्षता सिखाते है और उन बातो की भी निरपेक्ष जानकारी कराने की चेष्टा करते है जो हमारे लिए अनुपयोगी होती है या जिनसे हमारा मत नही मिलता। काल-द्रष्टा बनना मन की तिक्तता और आत्मा की दुर्बलता की चिकित्सा है। ससार के समस्त विश्वविद्यालयो की एक बडी बिरादरी है जो ससार भर मे फैले हुए अपने सदस्यो को बन्धुत्व के सूत्र मे आबद्ध कर देती है।

प्राय यह कहा जाता है कि वर्तमान युग की निर्बलता इस बात मे है कि यह जड-रहित है। विश्वविद्यालय का सच्चा कार्य है इसकी जड को फिर से जमाना। हमको ऐसा सहानुभूति और समझदारी के साथ ही करना चाहिए। यदि हम चाहते है कि आधुनिक जीवन की तीव्र गति, स्नायविक तनाव और दिन पर दिन बढने वाली असगति की छूत हमे भी न लग जाय, तो हमे अपने दैनिक जीवन की व्यस्तताओ के बीच कुछ ऐसे एकान्त क्षण अवश्य अलग निकाल लेने चाहिएँ जिनमे हम अपनी आत्मा की आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। धर्म मनुष्य के सम्मुख जीवन के उच्चतम सत्य को प्रस्तुत करता है। एक निरर्थक ससार मे मनुष्य ही

अकेला प्रतियोगी नहीं है। धर्म भी उसका साथ दे रहा है। दुर्भाग्य से, ससार के अन्य भागो की भाँति धर्म इस देश मे भी पतित हो गया है और धर्म अन्धविश्वास, साम्प्रदायिकता, मानसिक दासता, विश्वासातिरेक और हठधर्मिता का पर्याय बन गया है। धार्मिक सुधारको ने धर्म को विशुद्ध बनाने की चेष्टा की और परब्रह्म के साथ सम्पर्क तथा मनुष्य के प्रति प्रेम के तात्त्विक सरल नियमो पर उसे आधारित करने का प्रयत्न किया। धर्म का कर्त्तव्य है कि वह मानव के द्वारा अनुभूत सत्य को प्रकट करे और प्रत्येक नयी पीढी को वह उस सत्य को समझावे। सत्य को परिस्थिति के अनुरूप अपना स्वरूप बदलना चाहिए। इस युग के महान् धर्मगुरुओ ने काल और कालातीत, वर्तमान जीवन और शाश्वत जीवन दोनो छोरो की आवश्यकताओ को समझते हुए उपदेश किया है। शाश्वत सत्य आधुनिक मन को भी ग्राह्य होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है। यदि बहुत वास्तविक बात कही जाय, तो आज हम एक नए ससार मे रह रहे हैं। ज्ञान की एकता आज नयी है, मानव-समाज की प्रकृति आज नयी हो गई है और विचारो का अनुक्रम आज नया है; वे भूतकाल मे कैसे थे, इस बात को भूलकर अब हमे उनके नये स्वरूप को ही सत्य मानकर चलना होगा। धार्मिक सत्य विज्ञान की आकस्मिकताओ या आलोचना से परे है। वे मानव प्रकृति के नैतिक और आध्यात्मिक तथ्यो को अपना उपादान बनाकर चलते ह। इस युग के धार्मिक विचारक 'प्रस्थान-त्रय' की ओर उन्मुख हुए और उन्होने बताया कि इन तीन कार्यो मे विकसित धार्मिक सन्देश विवेकपूर्ण, नीति-सम्मत और आध्यात्मिक है। वह गम्भीर है, व्यापक है और पूर्ण है। यही 'ब्रह्मविद्या', 'योगशास्त्र' और 'कृष्णार्जुन सवाद' है—यही है सत्य, साधन और जीवन। सिद्धो ने घोषित किया है कि उन्होंने परब्रह्म के दर्शन किए हैं, वह सूर्य की भाति प्रकाशमान है और अन्धकार के परदे के पीछे उसका निवास है।

धर्म का फल है शीलाचार। यह शीलाचार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही हो सकता है। ईसा मसीह तो आकर्षित करते हैं, किन्तु

ईसाई धर्म-संस्था (चर्च) पीछे धकेलती है।[1] राममोहन रॉय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज-सुधारको ने हमारे समाज की सती तथा जाति-प्रथा जैसी दूषित प्रवृत्तियो के विरुद्ध सघर्ष किया। उन्होने विधवा-विवाह का समर्थन किया, बहुविवाह-प्रथा को मिटाने पर बल दिया और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। समाज ने स्त्रियो को जिन कार्यों के लिए अयोग्य बतला दिया था, उनके प्रतिबन्ध से स्त्रियो को मुक्त करने के प्रयत्न अधिकतर सफल हुए है, और उसी का यह परिणाम है कि आज हम इस विश्वविद्यालय के इतिहास मे प्रथम बार इसके कुलपति पद पर एक महिला को सुशोभित देख रहे है।

पुराने विश्वविद्यालयो के कार्य की निन्दा करने से कोई लाभ नही है। उन्होने कठिन परिस्थितियो मे यथाशक्ति अपना कर्त्तव्य निभाया है। किन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। हमारी क्रान्ति अभी समाप्त नही हुई है। हमको हिंसा, धर्मोन्माद और अविवेक की शक्तियो से अपनी रक्षा करनी है। हमको दारिद्र्य और रोग, अशिक्षा और बेकारी के विरुद्ध सघर्ष करना है। हमको मानव-मन के अज्ञानान्धकार के विरुद्ध एक लम्बा युद्ध छेडना है। अपनी सततियो की बौद्धिक न्यूनता, उनकी आध्यात्मिक अशिक्षा, सामाजिक अन्यायो की उनके द्वारा मौन स्वीकृति और समाज की बुराइयो के विरुद्ध उनमे धर्मयुद्ध की भावना के अभाव के लिए हम भी कुछ अश तक उत्तरदायी हे। आइए, हम आस्था से कार्य करे और अपनी जनता को एक सगठित समाज के रूप मे ऐक्यबद्ध कर दे तथा उसको शान्ति का रक्षक बना दे। वर्बर हिंसा पर आधारित शासन-सत्ता सदा नही टिक सकेगी। मानवता का फिर से उद्धार होगा, पारस्परिक सहनशीलता की भावना फिर उभरेगी और सत्य तथा प्रेम की विजय होकर रहेगी। 'सत्यमेव जयते, नानृतम्।'

---

१. ईसाई धर्म-प्रचार के सम्बन्ध मे आर्कविशप आयोग का प्रतिवेदन, १९४५।

विज्ञान और धर्म में विरोध नहीं है[1]

आज अपने बीच भाषण करने का अवसर देकर आपने मेरा बड़ा सम्मान किया है।

जिन स्नातको ने आज उपाधि-पत्र प्राप्त किये हैं, वे हमारे इतिहास के एक उत्तेजनापूर्ण समय मे अपने जीवन मे प्रवेश कर रहे है। उनसे आशा की जाती है कि वे देश के उत्थान मे अपना यत्किंचित् सहयोग देंगे। मैं उनका स्नेहपूर्ण अभिनन्दन करता हू। मुझे आशा है कि आगामी वर्षों मे स्त्रिया भी प्रौद्योगिकी (टेकनोलॉजी) और अभियान्त्रिकी (इजीनियरिंग) मे स्नातिका बनने लगेगी। भूतकाल मे हम अपने प्राविधिक पिछड़ेपन और राष्ट्रीय असगति के कारण हानि उठा चुके है। यह सस्था इन कमियो को कुछ अंश मे दूर करने मे सहायक हो रही है।

मै यह आवश्यक नही समझता कि उन सभी विभागो के नाम गिनाऊ जिनमे आपको यहा शिक्षा दी जा रही है। आपके यहा स्नातक-पूर्व प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है और स्नातकोत्तरीय अध्ययन तथा अनुसन्धान की भी। यहा अनुसन्धान की व्यवस्था होने मे हमारे सामने यह आदर्श उपस्थित होता है कि हमे ज्ञान का केवल प्रसार ही नही करना चाहिए, उसकी प्रगति मे भी योग देना चाहिए।

यद्यपि यह विद्यापीठ बंगाल मे अवस्थित है, तथापि इसमे ३० प्रति-

---

[1] इडियन इस्टीट्यूट ऑफ टेकनालॉजी, खड़गपुर के द्वितीय वार्षिक समारोह में भाषण—२४ जनवरी, १९५७।

शत से अधिक विद्यार्थी भारत के अन्य भागो से आए हुए है। भारतीय अध्यापक और छात्र भारत के सभी प्रदेशो का प्रतिनिधित्व करते है। एक ऐसे समय मे, जब लोगो मे सकीर्ण और स्थानीय पक्षपात का बोलबाला हो रहा है, जब साम्प्रदायिक तनाव और प्रान्तीय प्रतिद्वन्द्विता अपना सिर उठा रही है, उस समय एक इस जैसी सस्था का होना, जहा देश के विभिन्न भागो के विद्यार्थी साथ-साथ रहते है, इन भयकर प्रवृत्तियो को रोकने मे सहायक हो सकता है।

आधुनिक युग की दो प्रमुख विशेषताए आपकी इस सस्था मे है। उनमे से एक तो यह है कि हम एक-दूसरे के भागीदार है, और दूसरी यह कि भगवान या मनुष्य की ऐसी कोई आज्ञा नही है जिससे बाध्य होकर हम रोगी और भूखे रहे, दरिद्र और बेकार रहे।

सभ्य-जगत् का यह मूलाधार है कि बलवान को निर्बल की सहायता करनी चाहिए। यह विद्यापीठ अन्तरराष्ट्रीय सहकार का एक उदाहरण है। टी० सी० एम०, कोलम्बो योजना, यूनेस्को और इलिनोइस विश्व-विद्यालय ने आपको भवन-निर्माण मे यहायता की है—आपके भवन स्वच्छ है, आकर्षक है और उनमे पर्याप्त स्थान है—तथा आपके यहा अपनी ओर से कुछ अध्यापक भी इन्होने भेजे है।

हम यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्र है, तथापि आर्थिक दृष्टि से हम अब भी पराधीन है। एक समय था, जब हमने मान लिया था कि हमारा पतन अपरिहार्य है। अब हम यह समझ गए है कि अपनी स्थिति को उन्नत करने के कुछ उपाय भी है। प्रौद्योगिक रूप से आज यह सभव हो गया है कि गरीबी पूर्णतया समाप्त की जा सके। मानवीय कल्याण के मार्ग मे जो भौतिक कठिनाइया है, उनको विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आधुनिक प्रगति का सहारा लेकर हटाया जा सकता है। यदि हम चाहते है कि हमारी जनता के भौतिक रहन-सहन का स्तर पर्याप्त ऊचा उठ जाए, तो इस प्रकार की अन्य सस्थाओ की स्थापना होनी चाहिए।

ससार को एकीकृत करना भी सभव है। हम सभी भले पडोसियो की तरह साथ-साथ रह सकते है। भूत से भी अधिक गौरवपूर्ण भविष्य हमारे सामने है। फिर भी हम अपने वर्तमान से भयभीत है। इसका कारण यह

है कि वैज्ञानिक आविष्कारो द्वारा कितना-कुछ विनाश किया जा सकता है, इसकी कोई सीमा नही है। मानव-कल्याण के मार्ग मे जो रुकावटे है, उनका अस्तित्व मनुष्यो के मन मे ही है। घृणा, अज्ञानता, भ्रान्तविश्वास और हमारे कुत्सित भाव हमे सत्य-दर्शन के अयोग्य बना देते है और हम सत्य के लिए कार्य नही कर पाते। इन प्रवृत्तियो का सामना करने के लिए हममे प्रौद्योगिक ज्ञान और कौशल के अतिरिक्त सहानुभूतिशील हृदय और विवेक भी होना चाहिए। विवेक के अभाव के कारण ही हम लोगो मे से कई व्यक्ति मानसिक रूप से अस्थिर और नैतिक रूप से निर्बल है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आपके इस विद्यापीठ मे केवल इजीनियर ही नही उत्पन्न किए जा रहे, जो यान्त्रिक कुशलता से अपना कार्य करते है। आप उनमे मानवीय दृष्टिकोण पैदा करना चाहते हैं, उनको दूरदर्शी और सोद्देश्य बनाना चाहते है। आपके पाठ्यक्रम मे मानव-शास्त्रो के लिए भी स्थान है, जिनमे साहित्य, नागरिकशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, औद्योगिक मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र आदि सम्मिलित है। पाठ्यक्रम मे इनको इसीलिए स्थान दिया गया है, ताकि आपको जीवन के नैतिक मूल्यो का ज्ञान हो सके। जैसाकि श्री भगवद्गीता मे कहा है— हमको विवेक और ज्ञान दोनो को प्राप्त करना चाहिए ('ज्ञान विज्ञान सहितम्')। एक ऐसी घडी मे जब हमारा सारा ध्यान उच्चतम नैतिक मूल्यो से हटकर प्रौद्योगिक उपलब्धियो पर केन्द्रित हो गया है, जब हम पूर्ण जीवन की अपेक्षा व्यावहारिक कार्य को अधिक महत्व देने लगे है, तब यह जान लेना कल्याणकर रहेगा कि प्रौद्योगिकी (टेक्नालॉजी) मनुष्य के लिए है, मनुष्य प्रौद्योगिकी के लिए नही है। ससार की भौतिक वस्तुओ का उपयोग मनुष्य के ज्ञान मे वृद्धि करने के लिए और आत्मा के कोष को समृद्ध बनाने के लिए किया जाना चाहिए। मानव-प्राणी को भर पेट भोजन देना या उसके मस्तिष्क को प्रशिक्षित कर देना ही पर्याप्त नही है। हमे मनुष्य की आत्मा की आवश्यकताओ को पूरा करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। हमे एक नये आधार पर अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए, अध्यात्म के सुरक्षित रत्नो की खोज करनी चाहिए, हमे

सभी धर्मों मे पाये जाने वाले पवित्र विचारो को ग्रहण करना चाहिए।

विज्ञान और धर्म की भावनाओ मे कोई असगति नही है। विज्ञान और धर्म के अनावश्यक स्वरूप को देखकर ही यह प्रतीत होता है कि दोनो मे सघर्ष है। हमारी धार्मिक मान्यताओ को बौद्धिक विचारो का खण्डन नही करना चाहिए। यदि हम ऐहिक जीवन को समझेगे, तभी पारलौकिक प्रकाश का दर्शन कर सकेगे।

आज हम जिसको आधुनिकता कहते है, वह वैज्ञानिक क्रियाशीलता का परिणाम है। केवल यान्त्रिक पद्धति का विकास ही आधुनिकता नही है, वरन् इसका तात्पर्य उस दृष्टिकोण से भी है जो मन के रचनात्मक कार्यों के विरुद्ध है। कॉपरनिकस ने यह सिद्ध किया था कि हमारा यह भू-ग्रह विश्व का केन्द्र नही है। डार्विन ने यह प्रदर्शित किया था कि मनुष्य भी प्राकृतिक ससार का ही एक भाग है और अन्य समझदार प्राणियो मे और उसमे कोई विशेष अन्तर नही है। फ्रायड ने बताया कि अवचेतन मस्तिष्क हमारे जीवन मे बहुत बडा भाग लेता है। अपने विचारो और आवेगो को नियत्रण करने की जितनी शक्ति हम अपने-आपमे समझते है, वास्तव मे उतनी शक्ति हममे है नही, वरन् उससे बहुत कम है। अपनी शक्ति के प्रति हमे जो भ्रम है, उसके आधार पर हम विज्ञान की जो व्याख्या करते है, उसके कारण हम मनुष्य की रचनात्मक प्रेरणा के प्रति उदासीन हो जाते है। मानव-प्रकृति के जो पक्ष वैज्ञानिक सिद्धान्तो के साचो मे ठीक नही बैठते, उनका हम दमन करने की चेष्टा करते है। प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानवेत्ता लॉर्ड रदरफोर्ड (Lord Rutherford) ने एक बार प्रमुख दर्शनशास्त्री सैम्युएल अलेग्जैण्डर से विनोद करते हुए कहा था—"अलेग्जैण्डर! तुम इतने वर्षो तक इतने सारे विषयो के बारे मे बाते करते रहे, तनिक सोचो तो तुमने ससार मे किस चीज की वृद्धि की? केवल 'गरम हवा' की। 'गरम हवा' के अतिरिक्त किसी और चीज की नही!"

प्राकृतिक वैज्ञानिक का लक्ष्य वास्तविक बाह्य ससार की खोज है। वैज्ञानिक विधियो से हम वास्तविकता (सत्य) के विषय मे प्रत्यक्षतः कुछ भी नही जान सकते। वैज्ञानिक सूचना का अर्थ अनिश्चित और सदिग्ध होता है। यह हमको कुछ चिह्न बताती है, जिनका तात्पर्य हमे निकालना

होता है। वैज्ञानिक यह मानकर चलता है कि ससार का नियमन एक नियम-पद्धति से होता है, जिसे हम समझ तो सकते है, परन्तु वहुत विस्तृत रूप से नही। केवल वही व्याख्या तर्कसगत कही जा सकती है जो इस ससार के केन्द्रीय रहस्य की ओर इगित करती है। हम उस रहस्य का कुछ अश ही जानते हे, न तो उसका आदि जानते है, न उसका अन्त। हमे यह तो स्वीकार करना चाहिए कि वह रहस्य ऐसा है जिसके विपय मे कोई तर्कसगत विवरण या भापावद्ध वक्तव्य प्रस्तुत नही किया जा सकता। हमे दूसरो के दृष्टिकोण के प्रति न केवल सहनशील होना चाहिए, वरन् उसकी सराहना भी करनी चाहिए। गान्धीजी ने अपने हिन्दू वने रहने का यह कारण वताया था—"मैं वशानुक्रम मे विश्वास करता हू। क्योकि मैं हिन्दू परिवार मे पैदा हुआ था, इसलिए अपने इस विश्वास के कारण मै हिन्दू धर्म मे वना रहा। यदि मैं देखता कि मेरी नैतिक भावना या मेरे आध्यात्मिक विकास के साथ इस धर्म की सगति नही बैठ रही, तो मैं इसे त्याग देता। किन्तु, परीक्षण के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हू कि यह मेरे परिचित सभी धर्मो मे सवसे अधिक सहिष्णु है क्योकि यह हिन्दू को आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक से अधिक क्षेत्र प्रदान करता है। ससार मे यह अकेला ही धर्म तो है नही, इसलिए यह अपने अनुयायियों को इस वात की अनुमति देता है कि दूसरे धर्मों का आदर करो, और उनमे जो भी अच्छाई हो, उसकी न केवल प्रशसा करो, वल्कि उसे आत्मसात् कर लो।" कवीन्द्र रवीन्द्र के शान्तिनिकेतन मे "किसी भी व्यक्ति के धर्म या आस्था की निन्दा नही की जाती।" गान्धीजी और रवीन्द्रनाथ इस वात मे स्पष्ट विचार रखते है कि हमे ऐसे किसी धार्मिक विश्वास को स्वीकार नही करना चाहिए जिससे हमारी वुद्धि का समाधान न होता हो और जो नैतिक दृष्टि से घृणास्पद हो।

उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रन्थो के अध्ययन से हमारे चित्त मे निर्मलता आती है, हमे उन परम्पराओं का ज्ञान होता है जिनके वनने मे शताब्दियां लगी होती है। जव हम काल्पनिक रूप से एक क्षण के लिए, एक अन्य युग मे जा खडे होते है तव हम वर्तमान की समस्याओं को भी पूर्वापेक्षा ठीक से समझ सकते है। आधुनिक जीवन की अशान्तिमय भाग-

दौड मे यदि हम मानव मस्तिष्क और आत्मा की महान् कृतियो से अपना परिचय फिर से ताजा कर ले, तो हम समझदारी का ही काम करेगे। इससे हमको मनुष्य की आन्तरिक शक्तियो की जानकारी पाने मे सहायता मिलती है। हमारी कल्पना महान् होनी चाहिए, और उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थो मे हमे इसकी प्रचुरता मिलती है। जब विभिन्न अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोग से भी इन्द्रजीत न मर सका, तब लक्ष्मण कहते है—"यदि यह सच है कि राम धर्मात्मा और सत्यसन्ध है, तो इस बाण से इन्द्रजीत मारा जाए।"

"धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि शरैनम् जहि रावणम्।"

सीता कहती है—"यद्यपि राम दीन है और राज्य विहीन है, तथापि राम ही मेरे पति है, राम ही मेरे गुरु है।"

"दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्त्ता स मे गुरुः।"

हम एक ऐसे भयकर ससार मे रह रहे है जहा अब भी कई राष्ट्र शक्ति के निर्लज्ज प्रयोग द्वारा अपना स्वार्थ-साधन करना चाहते है, जहा अब भी शस्त्रो के बल से और रक्तपात से अन्याय थोपने की कुचेष्टाए हो रही है। कठिनाई के इस समय मे, हमे अपने मन को स्थिर और हृदय को उदार रखने की आवश्यकता है। कल्पना और उद्देश्य का सामजस्य हो जाने पर ही शान्ति स्थापित हो सकती है। हमारा लक्ष्य शत्रु को पराजित करना या किसी विवाद मे सफलीभूत होना नही है। हम तो समझौते के लिए कृतसकल्प है। मै यह कहने का साहस करता हू कि इस विद्यापीठ मे अध्ययन करके आप न केवल विशेषज्ञ प्रौद्योगविद् (टेकनालॉजिस्ट) ही बनेंगे, वरन् एक अच्छे नागरिक भी सिद्ध होगे।

चिन्तन-मनन करो*

मुझे यहाँ आकर, आप सबसे मिलकर और जिस सस्था के साथ मेरे पुराने मित्र वी० एल० एथिराज का नाम जुडा है, उसके सम्बन्ध मे कुछ परिचय प्राप्त करके सुख मिला है।

मुझे प्रसन्नता है कि उन्होने हमे यह कॉलेज दिया है। मैं आशा करता हू कि वे इसको ठोस आधार पर खड़ा करने के निमित्त जो कुछ आवश्यक होगा, करेंगे।

एच० जी० वेल्स ने प्रश्न किया था—"हमे अपने जीवन मे क्या करना है?" और स्वय ही उसका उत्तर दिया था—"अपने को सुव्यवस्थित करना है।" दूसरे शब्दो मे कहे तो नगर की गन्दी बस्तियो को स्वच्छ करना जितना आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक मानसिक गन्दी वस्तियो की स्वच्छता है। शिक्षा वह साधन है जिस से हम अपने मन को साफ सुथरा कर सकते है, ज्ञान प्राप्त कर सकते है और जीवन के उच्चतम मूल्यो से परिचित हो सकते है। शिक्षा से हमे न केवल सामान्य ज्ञान के तत्व या औद्योगिक कुशलता ही प्राप्त होनी चाहिए, वरन् उससे हमे वह मनोवृत्ति, वह बौद्धिक रुझान, लोकतन्त्र की वह भावना भी प्राप्त होनी चाहिए जिससे हम देश के उत्तरदायी नागरिक बन सके। सच्चा लोकतंत्र नागरिको का वह समाज है जिसमे सब एक दूसरे से भिन्नता

---

* एथिराज कॉलेज के पारितोषिक वितरणोत्सव मे किया गया भाषण—२७ जनवरी, १९५७।

रखते हुए भी एक ही लक्ष्य की प्राप्ति मे सलग्न होते है ।

दुर्भाग्य से, हम जिस नये समाज का निर्माण कर रहे है, उसमे प्रत्येक मनुष्य अपने ढंग से अपने भावावेगो को व्यक्त करने के लिए भी स्वतत्र नही है। उसे अपने भावावेगो को प्रमापित (Standardized) भावावेगो के स्तर के अधीन करना पडता है। मनुष्य अपना साध्य स्वय न होकर एक साधन-मात्र समझ लिया गया है। हमारे मतभेदो का नुकीलापन समाप्त करके उन्हे समतल कर दिया गया है और हमारी वृत्तियाँ एकरूप हो गयी है। सन्देहास्पद भविष्य और दूरवर्ती लाभ के नाम पर हमसे कहा जाता है कि हम अपनी प्रेरणाओ (impulses) और भावावेगो (emotions) को इनके अधीन कर दे। हम यह भूल जाते है कि व्यक्ति का कल्याण ही राज्य का सर्वोच्च लक्ष्य है।

जब हम कहते है कि हमारे देश मे लोकतात्रिक व्यवस्था है, तब उससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि राज्य का अस्तित्व अपने सदस्यो का हित करने के लिए है। हमारा वास्तविक हित अपनी आन्तरिक शक्तियो का विकास करने मे है। फिर भी, हममे से कई व्यक्ति जीवन के ऊपरी तल पर निवास करते है, उसकी गहराइयो मे पैठने की चेष्टा नही करते। वे उन्ही भावो की प्रतिध्वनि करते है जिनको रेडियो, सिनेमा और समाचार-पत्र हमारे मस्तिष्क मे भरते रहते है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम स्वय भी विचार करे, हमारे सामने जो ऑकडे प्रस्तुत किये जाते है, उनके औचित्य, अनौचित्य को समझे। उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थो का अध्ययन करने से हमे घटनाओ का उचित मूल्याकन करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। उत्कृष्ट साहित्य से हमारी भावनाओ का जो परिष्कार हो जाता है, उसके कारण हम तात्कालिक घटनाओ से प्रभावित नही होते, प्रचलित फैशनो और रुचियो की मानसिक दासता हम स्वीकार नही करते तथा जो कुछ सुलभ और प्रत्यक्ष होता है, केवल उसी को पाकर हम सन्तुष्ट नही हो जाते। इससे हममे वह सकल्प जागृत हो जाता है जो कठिन और दुर्लभ लक्ष्यो तक पहुचने को हमे प्रेरित करता है। इस देश मे हमने सदा से मौन चिन्तन एव मनन पर बल दिया है। हम अधिकाशत' बहिर्मुखी है। यह कहा जाता है कि ईश्वर ने नारी को

सौन्दर्य की प्रतिमा बनाया, फिर उसे एक जीभ दे दी और इसी से सब गुड गोबर कर दिया। हम अन्तर्मुखी होकर यह पता नही लगाते कि हममे क्या कमिया है। चाहे जैसी परिस्थिति हो, हमारे मनन-चिन्तन मे कोई बाधा उपस्थित नही हो सकती। चाहे कार्यालय हो या कारखाना, दूकान हो या कॉलेज—हम हर जगह इसका अभ्यास कर सकते है। मननपूर्ण जीवन बिताने का यह अर्थ नही है कि हम अपने तात्कालिक कर्त्तव्यो या प्रमुख सम्बन्धो से अपने को विमुख बना ले। आपको केवल निरर्थक और खेदोत्पादक सामाजिक नैत्यक (routine) कार्यो से अपने को विलग रखना होगा।

कहा जाता है कि जीवन-पथ पर चलना उतना ही दुष्कर है जितना तलवार की धार पर चलना। हमे विचार-सयम की आवश्यकता है। हमको अपने विरोधियों को विनष्ट करने की बात नही सोचनी चाहिए, केवल उनकी अभिवृत्तियो और उनके व्यवहारो को प्रभावित करने की चेष्टा करनी चाहिए। जो लोग हमसे मतभेद रखते है, उनसे अपनी बात मनवाने की चेष्टा हमे दो ही प्रकार से करनी चाहिए—एक, मिष्टभाषण से, दूसरे, अपने सहानुभूतिपूर्ण आचरण से।

जब हम कॉलिज मे विद्याध्ययन कर रहे हो, तब हमे दूसरो का सम्मान करना सीखना चाहिए। उनके जीवन और सपत्ति का ही सम्मान हमे नही करना चाहिए, वरन् उनके अग्राह्य स्वत्वो, उनकी कीर्ति और प्रतिष्ठा का भी। हमको ओछी बातें करने, गपशप करने और दूसरो पर कीचड उछालने मे बडा मजा आता है। हमे इनसे बचने की चेष्टा करनी चाहिए।

आप एक ऐसे युग मे रह रहे हैं जिसमे महिलाओ को सामाजिक कार्यो, सार्वजनिक जीवन और प्रशासन मे भाग लेने के महान् अवसर प्राप्त है। समाज को ऐसी महिलाओ की आवश्यकता है जिनके मन अनुशासित हो और जिनके आचरण सयमित हो। आप चाहे जो कार्य करे उसमे आपको सच्चे और अनुशासित मन से जुट जाना चाहिये। तभी आप सफल होगे और तभी आपको अपने कार्य मे आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

मुझे आशा है कि यह संस्था आने वाले वर्षो मे, छात्र-संख्या और गुणो की दृष्टि से उत्तरोत्तर उन्नति करती रहेगी।

संस्कृत-साहित्य का अध्ययन क्यों ?*

आज की सध्या मे यहाँ उपस्थित होकर इस महाविद्यालय के सस्थापक स्वर्गीय श्री वी० कृष्णास्वामी अय्यर के प्रति तथा गत वर्षो मे इस महाविद्यालय द्वारा किये गये अच्छे कार्य के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मुझे बडी प्रसन्नता हो रही है।

अपनी युवावस्था मे, जब मैं मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज का छात्र था, मैं अर्बुथनाट (Arbuthnot) के प्रसिद्ध मुकदमे मे स्वर्गीय श्री वी० कृष्णास्वामी अय्यर की बहस सुनने के लिए मद्रास उच्च न्यायालय मे दौडा चला जाता था। उनसे एक या दो बार भेट करने का अवसर भी मुझे मिला था। उन भेंटो मे मैंने उन्हे आनन्ददायक और स्नेहशील व्यक्ति पाया था। मनुष्य के जिन गुणो के वे सर्वाधिक प्रशसक थे, वे गुण थे—दयालुता और सत्यनिष्ठता। निष्ठुरता और पाखन्ड तो उन्हे फूटी आँखो नही सुहाते थे। वे बडे कुशल वक्ता और अच्छे लेखक थे। मुझे मद्रास विश्वविद्यालय के सन् १६११ के दीक्षान्त-समारोह की अभी तक स्मृति है। उसमे उनका भाषण हुआ था। जब वे भारतीय सस्कृति की महानता पर धाराप्रवाह भाषा मे भावावेश के साथ बोलने लगे, तब उन्होने अपने श्रोताओ की विशाल सख्या की हृद्तंत्री के तारो को झनझना दिया था।

---

*सस्कृत महाविद्यालय, माइलापुर (मद्रास) के स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव मे भाषण—२७ जनवरी, १६५७।

वकिमचन्द्र चटर्जी, ईश्वरचद्र विद्यासागर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विवेकानन्द, अरविन्द, स्वामी श्रद्धानन्द तथा लोकमान्य तिलक आदि जिन महान् नेताओ ने गत शताब्दी मे हमारी विचारधारा को नये मोड दिये, वे सस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। आज फिर लोगो मे सस्कृत-अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न होने लगी है।

कई भारतीय भाषाएँ तो सस्कृत से ही उत्पन्न हुई हैं, यहा तक कि द्रविड भाषाएँ भी उससे वहुत-कुछ प्रभावित हुई है। आज भी देश के विभिन्न भागो मे, पण्डित-वर्ग के वार्तालाप का माध्यम सस्कृत ही है। सस्कृत साहित्य ने हमारे मन और आचरण को वहुत प्रभावित किया है। एशिया के विस्तृत भू-भाग मे इस भाषा का प्रसार हो चुका है।

स्वर्गीय श्री वी० कृष्णास्वामी अय्यर ने हमारे प्राचीन साहित्य-ग्रथो से कुछ प्रमुख कथाओ का सकलन 'आर्यचरितम्' नामक पुस्तक में किया था। महान् साहित्य-ग्रथ हमारी मास-मज्जा मे इस प्रकार रम गये है कि हम वहुधा यह भूल जाते है कि आज हम जो कुछ है, वह सब उन्ही के वनाये हुए हैं। सस्कृत साहित्य ने मानवात्मा की गहराइयो को माप लिया है। हमारे महाकाव्य, पुराण, काव्य और नाटक शताव्दियो पूर्व की घटनाओ का उल्लेख करते है और हमारे अनुभव के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डालते है। वे अनुभूति के किसी क्षण को, सौन्दर्य के किसी स्वप्न को, आनन्द के किसी स्फुरण को, पीडा की किसी कसक को, जिसको मनुष्य यो ही खो देना नही चाहता था, चिरस्थायी वना देते हैं। कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियो ने भावना के उच्च शिखरो को माप कर उनको हमारे लिए सहजगम्य वना दिया है। इन महान् लेखको के पास कोई ऐसी अद्भुत शक्ति है जिससे वे हममे से प्रत्येक स्त्री-पुरुष से उसके द्वारा भली प्रकार समझी जाने योग्य भाषा मे वाते कर लेते हैं। हम जिस वातावरण मे रहते है, उसके कुप्रभाव से मुक्त होने मे और ससार को अधिक व्यापक दृष्टिकोण से देखने मे वे हमारी सहायता करते है। यदि हम अपने युग की ही समस्याओ मे उलझे रह गये, तो हम एक काल के वन्दी वनकर रह जाते है। हम एक ऐसा ससार निर्मित कर लेगे, जिसमे रहने की प्रत्येक सुविधाएँ तो होगी, परन्तु उसमे उन

आदर्शों का ही अभाव होगा जिनके लिए हम जीवित रहना चाहते है। सस्कृत के प्राचीन उच्च ग्रन्थ हमे उस गुप्त देश का मार्ग बताते है, जहाँ हमारी वास्तविक आत्मा निवास करती है। हमे जो छोटा-सा जीवन मिला है, उसका उपयोग हमे अपने भीतर की शाश्वत, विश्वव्यापक और आध्यात्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति मे करना है।

"मौनान् न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान् मुनि ।
स्वलक्षण तु यो वेद स मुनि श्रेष्ठ उच्यते ।।"

मुनि वह नही है जो मौन धारण किये रहता है, न वही मुनि है जो अरण्य मे निवास करता है, वरन् जो अपने स्वभाव को समझता है, उसी को श्रेष्ठ मुनि कहा जाता है। हमारे प्राचीन उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थ भारतीय और विदेशी भाषाओ मे अनुवादित हो चुके है।

महान् ग्रन्थ एक अर्थ मे तो राष्ट्रीय होते है, किन्तु उनकी विशेपताएँ विश्वव्यापी होती है। यदि किसी साहित्य को साहित्य के नाते अपने लक्ष्य को पूर्ण करना है, तो उसे अपनी कालगत विशिष्टताओ की सीमित सीमाओ के पार जाना ही होगा और उसे उन अनुभूतियो तथा भावो का चित्रण करने की चेष्टा करनी होगी, जो समस्त मानवता मे समान रूप से पायी जाती है, तथा उसे मनुष्य मे पायी जानेवाली अत्यावश्यक विश्वव्यापकता को प्रदर्शित करना होगा। केवल इसी प्रकार कोई राष्ट्रीय साहित्य अपने विशिष्ट स्वरूप को बनाये रखकर भी विश्वसाहित्य का अग बन सकता है।

जिन हिन्दू धर्म-ग्रन्थो ने एक विशिष्ट जीवन-पथ का निर्देश किया है, वे मुख्यत. सस्कृत भाषा मे ही लिखे गये है। वे हमे बताते है कि हिन्दू-धर्म केवल धार्मिक विश्वास (creed), धार्मिक मत या धार्मिक सस्कार नही है, वह इनसे भी अधिक कुछ है। वह एक वृत्ति है जो हमे व्यक्ति के जीवन के साथ-साथ समाज के जीवन को भी सगठित करने की प्रेरणा देती है। हिन्दू धर्म-सस्था को विभिन्न धार्मिक मतवादो —अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत—के आचार्यों के आशीर्वाद प्राप्त हो चुके हैं। अन्य धार्मिक विचारो के प्रति आदर की भावना अहिसा या प्रेम की ही अभिव्यक्ति है।

"अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्य कुशलो नरा ।
सर्वत मार आदद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदा ॥"

जिस प्रकार मधुमक्षिका पुष्पो से मधु सग्रह करती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्तियो को छोटे या बडे, सभी धर्मशास्त्रो से सत्य को चुन लेना चाहिए।

धार्मिक सिद्धान्तो की कट्टरता के नाम पर अनावश्यक और अनुचित रूप से बहुत-सा रक्तपात हुआ है।

हम ऐसा ससार चाहते हैं जो क्षेत्रीय सस्कृतियो की रक्षा करता हो, हम ऐसा ससार नही चाहते, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक ही से वस्त्र पहनता है, एक ही से शब्द बोलता है और एक ही से विश्वास रखता है। हम सब लोगो का एक ही लक्ष्य है, और वह यह कि हम राष्ट्रो का एक ऐसा विशाल परिवार बनाना चाहते है, जो शान्तिपूर्वक एक साथ मिल-कर रह सके और जिसका प्रत्येक सदस्य अपने-अपने विश्वासो के अनु-सार आचरण कर सके तथा नियमानुमोदित न्याय के द्वारा जिसका नियमन हो सके।

हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपने प्राचीन ऋषियो की भावना के प्रति तो एकनिष्ठ रहे किन्तु युग की आवश्यकता के अनुसार उनके निर्देशो की भाषा मे परिवर्त्तन कर डालें। हम एक पुराने प्रश्न को बार-बार दोहराते हैं, केवल इसीलिए यह सिद्ध नही होता कि वह प्रश्न भी वही है। प्रश्न अपने प्रसगानुसार गढे जाते है। एक युग की बौद्धिक मान्यताएँ, अपने उसी रूप मे, दूसरे युग की मान्यताएँ नही बन सकती। गत दो या तीन हजार वर्षो मे भी हमारे जीवन मे जितना परिवर्तन नही हुआ था, उससे कही अधिक आधारभूत परिवर्तन हमारे जीवन की दशाओ मे पिछले पचास वर्षो मे हो गये है।

सभ्यता कोई जड दशा नही है। यह सतत गतिशील है। हमे उत्तरा-धिकार मे केवल महान् बनाने वाले तत्त्व ही नही प्राप्त हुए हैं, वरन् प्रतिगामिता, सकीर्णता और अनेकता की शक्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। किसी पूर्वकथन को दोहराते रहने से ही हम किसी परपरा को जीवित नही रख सकते, परपरा को जीवित रखने की विधि यह है कि हम अपनी

समस्याओ का सामना उसी भावना से करे, जिस भावना से हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि अपनी समस्याओ का सामना करते थे। परपरा के प्रति हमारा सम्मान इतनी अधभक्ति का रूप न ले लेवे कि हम स्वतत्र रूप से विचार करना ही छोड बैठे और सत्ता के सम्मुख निर्विरोध आत्मसमर्पण कर दे। हमारी न्याय-भावना के मार्ग मे जो भी चीज वाधक बने, भले ही वह युगो के इतिहास द्वारा सम्मानित रह चुकी हो या घनिष्टता के कारण पवित्र सस्कार का रूप ले चुकी हो, उसे दूर हटा फेकना हमारा कर्त्तव्य है।

दक्षिण भारत के कई प्रख्यात पण्डित गण इस सस्था मे शिक्षा प्राप्त कर चुके है। इसका कार्य और प्रभाव दृढता से बढता आया है। भारत सरकार ने एक 'सस्कृत शिक्षा आयोग' की नियुक्ति कर दी है। आशा है, वह संस्कृत के अध्ययन मे उन्नति करने के लिए उपाय सुझाएगा। देश के विभिन्न भागो मे सस्कृत महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयो की स्थापना के प्रयत्न हो रहे है। यहा, इस सस्कृत महाविद्यालय के अतिरिक्त 'कुप्पुस्वामी शास्त्री सस्कृत-अनुसन्धान विद्यापीठ' भी है। ये दोनो विस्तृत होकर एक महान् विद्यालय मे परिणत हो सकते है और देश के इस भाग मे सस्कृत विद्या के अध्ययन का सफल सयोजन कर सकते हैं।

अतीत को मत भूलो, भविष्य को देखो*

मद्रास विश्वविद्यालय के शताब्दी समारोह जैसे ऐतिहासिक अवसर पर, विशिष्ट व्यक्तियो की इस सभा मे भाषण करने के लिए आमन्त्रित करके आपने मेरा बडा सम्मान किया है। विश्वविद्यालय ने आज अपने प्रतिष्ठित स्नातको की सूची मे मेरा नाम लिखकर मेरे साथ जो विशिष्ट व्यवहार किया है, मैं उसकी भी सराहना करता हूँ। अब मे ५० वर्ष पहले इस विश्वविद्यालय के १९०७ ई० के दीक्षान्त-समारोह मे मैने बी० ए० की उपाधि, जो मेरे जीवन मे प्राप्त पहली उपाधि थी, ग्रहण की थी। अपनी एम० ए० की उपाधि मैने सन् १९११ मे ली। ये उपाधियाँ मेरी अर्जित थी, किन्तु आज की उपाधि तो अनुग्रहपूर्वक मुझे प्रदान की गई है, अत मैं इसके लिए कृतज्ञ हूँ।

अपने जीवन मे मेरा कई विश्वविद्यालयो से सपर्क रहा है। मुझे यह प्रमाणित करते हुए हर्ष हो रहा है कि देश और विदेश मे इस विश्वविद्यालय की बडी प्रतिष्ठा है। इस अवधि मे इस विश्वविद्यालय का प्रबन्ध जिन व्यक्तियो के उत्तरदायित्व मे रहा है, वे हमारी हार्दिक बधाई के पात्र है, विशेषत इसके वर्तमान उपकुलपति, जो इस विश्वविद्यालय के साथ एक युग से भी अधिक समय से सक्रिय रूप से सम्बन्धित रहे है।

यह विश्वविद्यालय देश के प्राचीनतम विश्वविद्यालयो मे से है। अपने

*मद्रास विश्वविद्यालय के शताब्दी समारोह मे दीक्षान्त-भाषण—२९ जनवरी, १९५७।

लम्बे जीवन-काल मे इसने कई विशिष्ट कार्य किए है। दक्षिण भारत मे कला, विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, इंजीनियरिंग, शिक्षण तथा कानून की उच्चतर शिक्षा देने का उत्तरदायित्व इसी विश्वविद्यालय पर रहा है। इसी मातृ-सस्था मे मैसूर, आन्ध्र, उस्मानिया, अन्नामलाई, त्रावनकोर और वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय शाखा-रूप मे विकसित हुए हैं। मैं आशा करता हू कि ये नवीन विश्वविद्यालय भी शिक्षण तथा विद्याध्ययन का वही उच्च स्तर बनाए रखेगे जिसके लिए मद्रास विश्वविद्यालय प्रख्यात है।

इस विश्वविद्यालय के स्नातक भारत के सभी भागो मे बिखरे हुए है। उन्होने अपनी योग्यता और क्षमता के कारण इस विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा मे वृद्धि की है। इसने विज्ञान और साहित्य, शिक्षा और सामाजिक कार्य, प्रशासन और सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र मे नेतृत्व करने वाले व्यक्ति इस देश को दिए हैं। हमारे समय मे, 'रॉयल सोसाइटी' के प्रथम भारतीय सदस्य एस० रामानुजन् इसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे। उनकी नोटबुको का अभी तक सावधानी से अध्ययन किया जा रहा है। उनके पश्चात् इस विश्वविद्यालय के तीन स्नातक—चद्रशेखर व्यकट रमण, डॉ० कृष्णन् और चन्द्रशेखरन्—'रॉयल सोसाइटी' के अधिसदस्य (Fellows) हुए। भौतिक विज्ञान मे नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले एकमात्र भारतीय प्रोफेसर चद्रशेखर व्यकट रमण, जो अब भी महत्त्वपूर्ण अनुसन्धानो मे सलग्न है, विज्ञान के क्षेत्र मे कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओ के लिए एक आदर्श और प्रेरणा के स्रोत हैं। मद्रास विश्वविद्यालय ने हमारे देश को महान् प्रशासक भी प्रदान किये है, जिनके नाम सबको भली-भांति ज्ञात हैं। भारत के अन्तिम गवर्नर-जनरल श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, जो एक लम्बे समय से देश की महत्त्वपूर्ण सेवा कर रहे है, इसी विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों की आलोचनाएं हुई है, परन्तु उनके होते हुए भी, यह कहा जा सकता है कि मद्रास विश्वविद्यालय का कार्य अच्छा रहा है।

आज यहाँ एकत्र विद्वान् श्रोताओ को विस्तार से यह बताने की कोई आवश्यकता नही कि प्राचीन काल से ही दक्षिण भारतीयो ने बौद्धिक

साहसिकता और अग्रगामिता की भावना का प्रदर्शन करके बहुत नाम कमाया है। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी मे काञ्ची मे चीन का जो सद्‌भावना प्रतिनिधिमण्डल आया था, उसके अभिलेखों से यह प्रकट है कि दक्षिण भारत और चीन मे आवागमन का सम्बन्ध बना हुआ था। लगभग उसी समय की एक मुद्रा मैसूर के चन्द्रवल्ली नामक स्थान मे प्राप्त हुई है। हिन्दचीन और आर्किपेलागो के राज्यो का दक्षिण भारत से सक्रिय संपर्क था। कई बौद्ध भिक्षु दक्षिण भारत से चीन और अन्य देशो मे गए थे और बुद्ध भगवान् का सन्देश फैलाने के लिए उन्ही देशो मे स्थायी रूप से बस गए थे। चीनी इतिहासकारो ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि ८वी शती ईस्वी मे काञ्ची के पल्लव राजाओ और चीनी शासको के मध्य दौत्य सम्बन्ध स्थापित थे।

दक्षिण भारत से कई शताब्दियो तक भारतीय जावा मे जा-जाकर बसते रहे। परिणाम यह हुआ कि सातवी शती ईस्वी मे एक हिन्दू जावाई सभ्यता पुष्पित-पल्लवित होने लगी। जावा की हिन्दू रग मे रँगी सभ्यता के सर्वाधिक लोकप्रिय सन्त हुए, अगस्त्य। आठवी शताब्दी के मध्य से कुछ ही पहले सुमात्रा (सुवर्णद्वीप) मे एक हिन्दू-बौद्ध राज्य स्थापित हो गया था जिसकी राजधानी श्रीविजय मे थी और शैलेन्द्र-वश के राजाओ का उस पर शासन था। शैलेन्द्र राजागण आर्किपेलागो मे भारतीय सभ्यता के सबसे अधिक उत्साही प्रचारक थे। उनके शासन-काल मे बौद्धधर्म जावा का एक प्रमुख धर्म बन गया था। बोरोबुदुर का मन्दिर बनवाने का श्रेय इन्ही राजाओ को है। इस मन्दिर का जड सौन्दर्य सर्वोत्तम रचना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसी सर्वोत्तम कला तपस्या का ही फल होती है। तपस्या नाम और प्रसिद्धि की सारी लालसा को मिटाकर, व्यक्ति मे जो सर्वोत्तम होता है, उसको प्रेम और भक्ति के साथ उँडेल देने के लिए कलाकार को प्रेरित करती है। मन्दिर के चरण-प्रान्त मे जो प्रस्तर-लेख अकित है, वे प्राचीन जावाई लिपि मे है, जो एक दक्षिण भारतीय लिपि से, जिसे पल्लव लिपि कहते है, निकली थी। प्राम्बनन मे, उसी काल मे निर्मित शैव मन्दिर भी है। उनकी भित्तियाँ उद्‌भूत चित्रो (Reliefs) से सजायी गयी है, जिनमे रामायण की कथा अकित

की गयी है। शैलेन्द्र काल के दो राजकीय धर्म थे—बौद्ध और शैव। दक्षिण भारत के विद्वान् तथा उपदेशक सुदूर देशो मे जाकर भी अपने ज्ञान से दूसरो को लाभान्वित करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहे हैं।

अतीत की हमारी गाथाएँ हमे याद दिलाती है कि उस समय हममे स्वतत्रता, सम्मान, बन्धुत्व, और सद्भावना जैसे आध्यात्मिक गुण थे। इन गुणो के कारण हम अपने को ऐक्यसूत्र मे आवद्ध समभते थे और अपने ऐश्वर्य का उपभोग हम अपने पडोसियो के साथ मिलकर करते थे। जव तक इन गुणो से हम स्पन्दित रहे, हम शताब्दियो तक समृद्ध होते रहे, किन्तु भयभीत और उद्दण्ड लोगो ने जब इन गुणो को अतल-तल मे डुवो दिया, तभी से हमारा पतन प्रारम्भ हुआ। इन लोगो ने हमारे मन को सन्देह और भय से भर दिया और हमारी दृष्टि को इन्होने दुर्भावना के मेघो से आच्छादित कर लिया। यदि हम अपनी अग्रगामिता, नेतृत्व, साहसिकता और अध्यवसाय-भावना को बनाये रखे तथा उस आस्था और आदर्श को भी न भूले जिन्होने प्रारम्भिक शताब्दियो मे हमसे कई महान् कार्य करा लिये, यदि हम उन पूर्वाग्रहो को हटा फेके, जो हमे एक-दूसरे से अलग करते है, तो हमे ससार मे भयभीत होने का कोई उचित कारण नही दीखता। हम निर्वैयक्तिक शक्तियो के, जिनको हम समभते नही, तथा जिन पर हम नियत्रण नही कर सकते, हाथ के असहाय खिलौने नही है। हम चीजो का भविष्य निर्माण करने मे भी भाग ले सकते हैं।

इतिहास के विषय मे भिन्न-भिन्न मत हे। कोई इसे चक्राकार (Cyclical) वताता है, कोई रेखाकार (Linear) और कोई कुन्तलाकार (Spiral)। यूनानियो का विश्वास था कि इतिहास की गति चक्राकार है और वह कतिपय निर्वैयक्तिक नियमो से परिचालित है। 'एक्लिजियास्टीज' के उपदेशक की दृष्टि मे यह आया कि "जो चीज हो चुकी है, वही आगे भी होगी, जो चीज़ की जा चुकी हे वही चीज आगे भी की जाएगी।" और ससार मे नयी कही जाने योग्य कोई वस्तु नही हैं। यहूदियो, ईसाइयो और मुसलमानो का यह विचार है कि इतिहास ब्रह्माण्ड की अनुकृति का ही उद्घाटन है, यह ईश्वर की एक क्रिया है

जो सृष्टि-रचना के समय प्रारम्भ हुई थी और कयामत (निर्णय-दिवस) के दिन तक चलेगी। कयामत का यह अन्तिम दिन उस विधि-लेख को पढ़ेगा जो सृष्टि-रचना के समय लिखा गया था। चीनियो का विश्वास था कि इतिहास एक सामान्य वस्तु (theme) मे उत्पन्न की गयी विविधताओ की अविरत शृंखला है। इतिहास को कुन्तलाकार मानने वालो के मन से इतिहास डूबती-उतराती-भँवर मे फँसती, अवगतियो से टकराती, पुन: पीछे लौटती एक प्रक्रिया है, जो इसी गति से चलकर उच्चतर लक्ष्य पर पहुचती है। हममे से कई लोग वैज्ञानिक विचारो से अभिभूत होकर यह सोचने लगते है कि ऐतिहासिक निश्चयवाद (historical determinism) जैसी भी कोई चीज होती है। कुछ अन्य लोगो का विचार है कि इतिहास एक अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित प्रवाह है और अस्थिरता या चचलता ही उसकी प्रधान विशेषता है। एक अन्य विचार धारा भी है जो इतिहास को हमारे आदर्शो और विचारो, आशाओ और भयो, महत्त्वाकाँक्षाओ और नीतियो का प्रतिफलन मानता है। यह कई कारणो के मेल से उत्पन्न होता है। इनमे से कुछ कारण आवश्यक होते है और कुछ आकस्मिक। मानवीय आत्मा की शक्ति एक अत्यावश्यक तत्त्व है। मनुष्यो और वस्तुओ मे एक आधारभूत अन्तर है। हम जो चाहते है उसी को करने के लिए मनुष्यो को वाध्य नही कर सकते। अपनी इच्छा के विरुद्ध और दूसरे की वलात् थोपी हुई इच्छा के अनुकूल कार्य करने की अपेक्षा वे मर जाना अधिक पसन्द करेगे। मानवीय प्रकृति मे अनिश्चयात्मकता का भी एक तत्त्व होता है। वह किसी एक वस्तु से ही चिपककर नही रहना चाहता। उसके इस स्वभाव मे असीम सम्भावनाएँ निहित है। सुकरात, बुद्ध, ईसामसीह जैसे महान् नेता मानव जाति को कुछ नयी वस्तु देते है और मानव के विकास मे नवीन स्तरो का उद्घाटन करते है 'राजा कालस्य कारणम्।' इतिहास के निर्माण मे मनुष्य का वास्तविक हाथ होता है। वह कई वैकल्पिक विकासो मे से चाहे जिस विकास-क्रम को अपने लिए चुन सकता है। हम जो कुछ अभी करेंगे, उसी के अनुसार भविष्य अच्छा या बुरा बनेगा। मानव जीवन मे स्वतंत्रता और आवश्यकता का चोली-दामन का साथ है। वे अन्योन्याश्रित है। यही

बात इतिहास मे भी है। कोई चीज ऐसी नही, जो अपरिहार्य हो। जब घटनाएँ घट जाती है, तव वे भूतकाल की कहलाने लगती है, किन्तु जब तक वे घटती नही, तब तक हम पहले से ही उनके विपय मे कुछ नही जान सकते। एक युग के पश्चात् दूसरा युग मामान्य क्रम से नही आता, वरन् कभी कभी तो वह निरन्तरता का क्रम बीच मे ही तोड देता है और नये ढग से व्यवस्था-क्रम स्थापित करता है। हम इतिहास मे निरन्तरता और नवीनता—दोनो ही वाते पाते है। व्यक्तियो की उपेक्षा करके हम केवल इतिहास के नियमो पर विचार नही कर सकते। मनुष्य की आत्मा अपने व्यवहार मे स्वतन्त्र है। समाज मे रहते हुए मनुष्य जो व्यवहार करता है, उसका अध्ययन नपे-तुले विज्ञान का रूप नही ले सकता। मनुष्य का भविष्य मनुष्य ही है। व्यक्तियो के व्यक्तिगत प्रयत्नो से ही हम अपने भविष्य का पुनर्निर्माण कर सकते है।

यदि ससार अव्यवस्थित और अस्थिर है, तो उसके इस रूप मे हमारे मन का ही प्रतिविम्ब दिखायी देता है। हमारी पीढी विद्रोह नही कर रही, वल्कि पीछे हट रही है। यह सच है कि सभी युगो को सन्देह और अनिश्चितता की स्थिति मे से गुजरना पडा है। यह कहा जाता है कि मनुष्य की झझटे उसी दिन आरम्भ हुई जिस दिन वह दूसरे मनुष्य से मिला था। सभव है कि अन्य युगो को इस युग से भी अधिक निराशामय और भयावह समय देखना पडा हो। हमारे युग मे घटनाएँ अधिक तीव्र गति से घटित हो रही है। पूर्व युगो मे लोगो के पास अवकाश अविक था। परिवर्तन होते थे, पर धीरे-धीरे, मन्थर गति से। इस युग मे परिवर्तन जल्दी-जल्दी हो रहे है। हम व्यग्रता और सभ्रम के वातावरण मे रह रहे है, नैतिक दृष्टि से हम भटक रहे है। औपधि, यान्त्रिकी, उद्योग, कृषि और युद्ध के क्षेत्र मे जो व्यावहारिक सफलताएँ मिल चुकी है, वे इतनी चमत्कारिक है कि हमको यह विश्वास-सा होने लगा है कि वैज्ञानिको के इन आश्चर्यपूर्ण कार्यो से हमारे आनन्द मे वृद्धि होगी, किन्तु उनका जो रूप व्यवहारत हमे देखने को मिला है, उससे तो हमारे कान खडे हो गये है और हम इस समय विपमता, सक्राति, विरोधाभास तथा अनिश्चितता की स्थिति मे पडे हुए है।

हमारे क्लेश का कारण यह है कि हमारी जड़ उखड चुकी है। हम अपने आध्यात्मिक मूलाधार से जिससे हमे सहारा और सन्तुलन प्राप्त होते हैं, अलग जा पडे है। हममे से कई लोग अपने ऐतिहासिक मूल को भुला बैठे हैं और हमारे अतीत से वे निर्वासित हो चुके है। समय की दृष्टि से जो चीजे हमारे निकटतम हैं, वे आत्मिक दृष्टि से हमारे निकटतम नही है। इतिहास के ऊपरी तल के फेन का उतना महत्त्व नही है जितना महत्त्व उसकी गहराई मे प्रवाहित होनेवाली अन्तर्धाराओ का है। इन्ही अन्तर्धाराओ ने हमे बल और ओज प्रदान किया है जिनसे हम इतनी शताब्दियो तक जीवित रह सके है। यदि हम स्वय आत्म-विश्वास खो दे, तो दूसरो का विश्वास अपने मे नही बनाये रख सकते। हम मानव-प्रकृति का पुनर्नवीकरण चाहते है, उसका रचनात्मक रूपान्तरण चाहते है, जिससे हम भय और पीडा, निराशा और असहायता के चगुल से छूट सके। इससे हम नये ससार के निर्माण के लिए वीरतापूर्वक कार्य कर सकेगे। इस नये ससार का विज्ञान और प्रौद्योगिकी से गहरा सम्बन्ध है। हम कलाओ और साहित्यिक समालोचना तक को विज्ञान की श्रेणी मे गिनना चाह रहे है। कुछ दार्शनिक दर्शन-शास्त्र को तार्किक विश्लेषण तक सीमित कर देना चाहते है। कुछ लोग धर्म को भ्रम मानते है। विज्ञान का इस प्रकार का अनुस्थापन सभ्यता के मूल्यो (values) को ही अस्तव्यस्त कर दे सकता है।

फिर भी, विज्ञान के निष्कर्षो और धर्म के सिद्धान्तो मे कोई विभेद नही है। दोनो ही सत्य का अन्वेषण करना चाहते है, यद्यपि दोनो के वहा तक पहुचने के मार्ग भिन्न-भिन्न है। क्योकि ईश्वर ही सत्य है—सत्यस्वरूप है, अत सत्य की खोज ईश्वर की ही खोज है। मनुष्य ने मशीन को बनाया है, इसलिए वह मशीन से बडा है। जो अणु का विस्फोट करता है, वह अणु से बडा है। विज्ञान भूतद्रव्य (matter) की सर्वशक्तिमत्ता नही प्रकट करता, वह तो मनुष्य की आत्मा की परमश्रेष्ठता को ही प्रकट करता है। जो आत्मा मनुष्यो के मन मे स्पन्दित रहती है और जो उनको इस अन्वेषण मे प्रवृत्त रहने के लिए प्रेरित करती है, वह दैवी आत्मा है। 'ब्रह्म' शब्द उस सत्य का सूचक है जिसका अन्वेषण

किया जाता है और उस आत्मा का भी सूचक है जो सत्य का अन्वेषण करती है। यदि हम संसार को वैज्ञानिक दृष्टि से देखे, तो हमे उसमे एक केन्द्रीय रहस्य का पता चलता है। विज्ञान अभी तक अपने प्रयोगो के द्वारा उस रहस्य की झाकी नही ले सका है। उस रहस्य के प्रति हमको पवित्र भावना, विनय और भक्ति रखनी चाहिए। हमे यह स्वीकार करना चाहिए कि सत्य तो ईश्वर से सम्वन्धित है और विचारो का सम्बन्ध मनुष्य से है। ईश्वर के रहस्य के साथ असहिष्णुता के विष की सङ्गति नही बैठती। धार्मिक सिद्धान्तो के नाम पर अनावश्यक और अनुचित रक्त-पात बहुत अधिक हुआ है। विभिन्न धर्म मनुष्य की महान् आध्यात्मिक उपलब्धियो है। हमे मनुष्य के केवल एक विशेष उत्पादन पर ही गर्व नही करना चाहिए, वरन् सभी पर, क्योकि हम सव, प्रत्येक महान् धर्म मे, अलग-अलग मार्गो से एक ही लक्ष्य पर पहुचने की चेष्टा कर रहे है और इस नाते हम सहयात्री है। तिरुकुरल को जैनधर्मी, बौद्धधर्मी और हिन्दूधर्मी—तीनो ही अपना तीर्थस्थान वताते है। वह हमे एक विश्व-व्यापी मानवता मे दीक्षित करता है। सच्चा धर्म चाहता है कि हम अपनी सहानुभूति अपने से भिन्न मत रखनेवालो को भी दे। धार्मिक अभिमान के कारण हम ऐसा सोच सकते है कि हमारा अपना धर्म ही सच्चा धर्म है, 'जनता बस हमी है, और सारी विवेक-वुद्धि हमारे साथ ही मर जाएगी।'

विज्ञान ईश्वर-सम्वन्धी हमारी धारणाओ को विस्तृत करता है और धर्म विज्ञान को पथ-भ्रष्ट होने से वचाता है। धर्म की परिणति युद्धो और धार्मिक मुकद्दमो मे नही होनी चाहिए, और न विज्ञान की परिणति हिरोशिमा तथा नागासाकी मे। कहते है कि धर्मरहित मनुष्य वैसा ही है जैसा कि वल्गारहित अश्व। हमे धर्म के अनुशासन की आवश्यकता इस-लिए है कि हमारा स्वभाव सभ्य वन सके, हम अपने लोभ को, अपनी कठोरता और निर्दयता को सवरण कर सके। फिर भी, धर्म की व्याख्या सकुचित, साम्प्रदायिक एव कट्टर अर्थ मे नही की जानी चाहिए। धर्म की व्याख्या उदार होनी चाहिए, जैसी कि हमारे ऋषियो, भक्तो, नायनारो आलवारो तथा आचार्यो ने की है। उन्होने एक स्वर से कहा है कि हम

एक व्यवस्थित संसार की रचना तब तक नही कर सकेंगे, जब तक हम अपने ऊपर नियंत्रण नही कर पाते। आज हम जिस विशृ खलित तथा भ्रमित संसार मे रह रहे है, उसमे हमे उन आदर्शों के अनुरूप अपना जीवन बिताना चाहिये जिनको धार्मिक विचारको ने हमारे सम्मुख रखा है। हम शान्ति केवल तभी पा सकते है, जब हममे त्याग करने का साहस हो। बीमारी, गरीबी या मृत्यु के कारण हम यह अनुभव करने लगते है कि संसार हमारे लिए नही बना है। हमारे स्वप्न चाहे जितने सुन्दर हो, किन्तु यदि परिस्थितियाँ चाहे तो हमे उनको प्राप्त नही करने दे सकती। ऐसी दशा मे हमे सबसे अधिक जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह है साहस।

धर्म का उद्देश्य लोगों की सम्मतियों को ही बदलना नही है, वरन् उसका उद्देश्य है लोगो के जीवन मे परिवर्तन ला देना। हमे अपने हृदय को स्वच्छ बनाना चाहिए। विचार मे तो हम धार्मिक माँगो को स्वीकार करते है, किन्तु आचार मे उनकी उपेक्षा कर देते है। परम तत्त्व का केवल सैद्धान्तिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है—"वाक्यार्थ ज्ञानमात्रात् न अमृतम्।" प्रभु ईसामसीह ने कहा था—"वह प्रत्येक व्यक्ति जो मुझसे 'प्रभु' 'प्रभु' कहता है, स्वर्ग के साम्राज्य मे प्रवेश नही कर सकता। उसमे तो प्रवेश वही कर सकता है जो स्वर्ग मे रहनेवाले मेरे पिता की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। हम अच्छे है या बुरे, इसकी परख हमारे शब्दो मे नही, हमारे कार्यों से होगी। उच्च स्वर से की गयी घोषणाओ से नही, वरन् हमारे वास्तविक कर्मों मे हमारी परीक्षा होगी। एक अग्रेज कवि ने लिखा है—

ज्ञान हम चाहे नही,
ज्ञान तो तुमने दिया है,
किन्तु प्रभु संकल्प—
संकल्प, बस संकल्प हमको चाहिए।
शक्ति दो ऐसी कि इच्छाएँ दबा,
कर्मरत हो, कर्मरत हम हो।[1]

---

[1] Knowledge we ask not—knowledge Thou hast lent. But Lord, the will—there lies our bitter need. Grant us to build, above the deep intent the deed, the deed

धार्मिक व्यक्ति का कार्य है कि वह झकझोरे, उसका कर्त्तव्य है कि वह सोते हुओ को जगाये, सनातन धर्म के स्तम्भो को हिलाये। वह अपने समय की उपज है, साथ ही वह अपने समय का उपदेशक भी है। वह ऐसा हो कि जब हम उसकी बाते सुने, तो हमारे हृदय मे मन्थन हो, जिन बातो को हमने अपने स्वभाव का अग बना लिया है, उनकी सत्यता के विषय मे भी हम एक बार सन्देहशील हो उठे। धार्मिक व्यक्ति हमारे कथनी और करनी के अन्तर की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

हम सामाजिक विभेदो और असहमतियो के शिकार है। हमारी नीयत चाहे जितनी ठीक हो, हमारी जनता मे अभी वह भावात्मक एकता है ही नही। जाति-भेद तथा जातियो मे ऊच-नीच की भावना अभी तक हम पर हावी है।

धर्म दार्शनिको और अध्यात्मवादियो की ही बपौती नही है। वह साधारण मनुष्य के लिए भी बना है। एक ऐसे संसार मे, जो भयावह रूप से पथभ्रान्त हो चुका है तथा अशान्त है, साधारण जन को भी पवित्रता की भावना अपने भीतर लाने की आवश्यकता है। दक्षिण भारत मे भक्ति-सप्रदाय सर्वाधिक लोकप्रिय है। आज भी हम देखते है कि भक्त लोग एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की यात्रा करते है और अपने मन्दिरो तक जाते समय मार्ग मे मत्र-पाठ करते तथा भजन गाते जाते है।" हे ईश्वर! मेरे भीतर जो 'मैं' है, उसे तू नष्ट कर और उसके स्थान पर तू आ विराज। हे भगवन्! जो कुछ मेरा है, वह तेरा ही तो है।" सच्चा दान तो आत्मदान ही है। मुहम्मद साहब को जीवन का तत्त्व इस्लाम मे—अर्थात् ईश्वर की इच्छा के सम्मुख आत्मसमर्पण करने मे दिखायी दिया। सभी धर्म प्रार्थना के महत्व पर बल देते हैं। मुहम्मद साहब ने तो इसे सब चीजो से अधिक महत्त्व दिया। उन्होने अपने अनुयायियो को पाच बार नमाज पढने पर जोर दिया और समस्त ससार को ही प्रार्थना-भवन मे बदल दिया। भक्तो ने, जिन्होने अपने युग के साहित्य की रचना की है, ईश्वर को दरिद्रनारायण कहकर उसका गान किया है। ईश्वर की अपनी कोई आवश्यकता नही है, फिर भी वह मानवीय आवश्यकताओ के

रूप मे अपने को मूर्त करता है, ताकि हम उसकी सेवा कर सके। उसको भूख नही लगती, फिर भी, वह रोटी मागने के लिए हमारे द्वार आता है, ताकि हम उसे रोटी दे सके। वह एक भिक्षुक के रूप मे हमारे द्वार पर इसलिए आता है कि हम उसकी झोली भर सके। ईसा ने कहा है—"मैं भूखा था और तुमने मुझे भोजन कराया, मैं प्यासा था, और तुमने मेरी प्यास बुझायी।"

भक्ति-आन्दोलन लोकतान्त्रिक व्यवहार की अपेक्षा रखता है। 'नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-विभेदः'।* भक्तो मे जाति, विद्या, शारीरिक सौन्दर्य, कुल, सपत्ति और व्यवसाय का कोई भेद नहीं माना जाता। 'हरि को भजे सो हरि का होई।' हमारे देश मे मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बुरा शत्रु बन गया है, क्योकि वह सत्य से विलग हो चुका है और उसकी आत्मा तमाच्छन्न हो गयी है। स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक अन्याय के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई है। जाति-बन्धन भी ढीला पड रहा है और सभी स्त्रियो-पुरुषो को समानाधिकार देने का प्रयत्न हो रहा है।

धर्म के आधारभूत सिद्धान्तो का पालन करने का परिणाम यह होना चाहिए कि हमारे राजनीतिक जीवन मे चाहे जितने उत्थान-पतन हो अथवा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धो मे चाहे जो मोड या घुमाव आवे, हमारी मानसिक शान्ति और हमारी आस्था उनके कारण विचलित न हो। हमको उत्तेजित नही होना चाहिए। हमको चाहे जितना उकसाया जाय, पर हमे गाली-गलौज और रोषपूर्ण शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए और न अपने व्यवहार मे कडवाहट लानी चाहिए। जो काम हमे करने नही हैं उनके विषय मे सोचकर अपना समय व्यर्थ नही खोना चाहिए। हमारा तो काम केवल यह है कि इतिहास ने हम पर जो उत्तरदायित्व डाला है, उसको पूरा करें और यथाशक्ति अच्छी तरह पूरा करें। हम चाहे या न चाहे, परन्तु हमे युग के प्रवाह मे तो आगे बढना ही है। यदि हम आगे बढनेवाले अपने विकास को नही स्वीकार

---

*नारदभक्ति सूत्र, ७२

करते, यदि हम इसको अस्वीकार कर देते है और पीछे लौट जाना चाहते हैं, तो हम अपने-आप मे ही विभक्त हो जाएँगे, हम दो आवेगो (impu-lses) के बीच टूक-टूक हो जाएगे, अपनी शक्ति का अपव्यय करेगे और हमारा स्वभाव दो विरोधी शक्तियो का सघर्ष-स्थल बन जाएगा, हमारे अन्तर मे ही फूट पड जाएगी। हमे अवश्य आगे बढना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि हमारा भविष्य हमारे भूत की अपेक्षा अधिक अच्छा होगा। हम अपने बीते हुए कल को न भूले, परन्तु हमे काम तो करना है आगामी कल के लिए।

इस अशान्त आधुनिक ससार मे, जिसको विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने एक पडोस के रूप मे परिवर्तित कर दिया है, यह विश्वविद्यालय और अन्य विश्वविद्यालय अपने सयुक्त प्रयत्नो के द्वारा शान्ति और सहानुभूति के वातावरण का विकास कर सकते है। विश्वविद्यालय एक ऐमा साहचर्य है जो अतीत की उपलब्धियो की प्रशसा करता हुआ भी आगे आने वाले भविष्य की समृद्धि मे विश्वास करता है, यह ऐसा साहचर्य है जो प्रजाति और राष्ट्र, श्रेणी और मप्रदाय की सारी बाधाओ का अतिक्रमण करते हुए भी, नाना प्रकार के लोगो की कलात्मक और बौद्धिक परपराओ का सम्मान करता है। विद्वान् और वैज्ञानिक अपने-अपने देशो मे व्याप्त राजनीतिक भावावेशो से सदा ही अप्रभावित नही रहते, किन्तु ज्ञान-प्राप्ति की अपनी साधना मे, अपने सयम तथा विराग के कारण वे उन भावावेशो से ऊपर उठ सकते है और अपने राजनीतिक शत्रु मे अपने व्यावसायिक सहकर्मी के दर्शन कर मकते हैं। कम से कम विश्वविद्यालयो मे तो अवश्य ही, हमे राष्ट्रीय हितो से ऊपर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए और निरपेक्ष अन्वेषण की शुद्ध वायु मे सास लेनी चाहिए।

प्रत्येक विश्वविद्यालय के नेताओ को मनुष्य की आत्मा को ऊचा उठाने की चेष्टा करनी चाहिए। हमे अपना समस्त कौशल, समस्त धैर्य और समस्त सकल्प केवल अपने देश के ही नही, वरन् ससार के भविष्य को लोकतान्त्रिक पद्धति पर निर्मित करने मे लगा देना चाहिए। यदि इस विश्वविद्यालय मे आस्था की कमी नही है, और आगे आनेवाले वर्षों मे

यह विद्वान्, गुणवान, कुशल न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ और चरित्रवान् नर-नारियो को उत्पन्न करता है, तो हम असहनीय को भी सह लेगे, असंभव को भी सभव बना देगे और इस पृथ्वी पर सत्य, न्याय तथा प्रेम का शासन स्थापित कर देगे ।

सभी धर्मों का सम्मान करें*

मैं प्रोफेसर तोयन्बी (Toynbee) और डॉक्टर पेनफील्ड (Pen-field) को कैसे यह बताऊ कि आज उनके द्वारा हमारी अधि-सदस्यता (fellowship) ग्रहण करने पर हमे कितनी प्रसन्नता हुई है।

प्रोफेसर तोयन्बी ने दस जिल्दो मे जो विशाल और उत्कृष्ट ऐतिहासिक ग्रथ लिखा है, उस पर कोई टिप्पणी करने का मैं अपने को योग्य अधिकारी नही समझता। मैने उन जिल्दो को और उनके कुछ अन्य ग्रथो को पढा है और उनसे लाभान्वित हुआ हू। अभी-अभी उन्होने अपने भाषण मे कहा है कि इस देश के अल्पसख्यक शिक्षितो को सामान्य जनता की स्थिति मे उन्नति करने का भारी उत्तरदायित्व पूरा करना है। जो लोग सत्ता और सुविधा वाले पदो पर आसीन है, उनको जनता की आर्थिक प्रगति को अधिक तीव्र बनाने के लिए यथा-शक्ति और त्याग की भावना से कार्य करना चाहिए एक ऐसे युग मे जिसमे विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रति लोगो मे अन्धश्रद्धा हो गई है और जिसमे मनुष्य तथा ससार की आध्यात्मिकता की भावना विलुप्त हो गयी है, नये ससार की आशा एकमात्र धर्म पर टिकी है। हम आज अहकार से पीडित हैं। इस पर विजय प्राप्त करने के लिए हमे इसके

*दिल्ली विश्वविद्यालय के विशेष दीक्षान्त-समारोह मे कुलपति के रूप मे भाषण—१६ फरवरी, १९५७। इस समारोह मे प्रोफेसर आर्नल्ड तोयन्बी और डॉक्टर वाइल्डर पेनफील्ड को दिल्ली विश्वविद्यालय की सम्मानित उपाधि प्रदान की गयी थी।

विपरीत गुण विनय का आश्रय लेना चाहिए। आत्मकेन्द्रित हो जाना आत्म-विनाश है। आज के ससार मे फैली हुई विश्रृंखलता की चुनौती का सामना केवल आध्यात्मिक पुनर्जागरण से ही किया जा सकता है। "आपका पुनर्जन्म होना चाहिए।" विज्ञान और प्रौद्योगिकी का यह सारा वैभव केवल बौने मानव को जन्म दे सकता है, पूर्ण मानव का निर्माण नही कर सकता। विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी केवल वही मशीने बना सकती हैं जिनमे मनुष्य ने अपनी बुद्धि और इच्छा का प्रयोग किया है।

जैसा कि डॉ० पेनफील्ड ने कहा है, विज्ञान जीवन के रहस्य को नही समझ पाया है और न वह मानवीय सम्बन्धो की पहेली को सुलझा पाया है। इतिहास इसका साक्षी है कि जब तक हम आध्यात्मिक आदर्शों के प्रति उद्‌बुद्ध रहे है, तभी तक हमने प्रगति की हे; जब-जब वे आदर्श धुधले पडे है, तभी प्रगति के कदम लडखडाये हैं।

आज जब कि संसार चिता-ग्रस्त स्थिति मे है और अधिकाश व्यक्ति घटनाओ की प्रगति के सामने अपने को असहाय अनुभव कर रहे हैं तब प्रोफेसर तोयन्वी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास की रचना में व्यक्ति का बड़ा हाथ है। मनुष्य अपने उपयोग मे आनेवाली वस्तुओ की तरह जड नही है। उसमे आत्मा का स्फुलिंग है, वह ईश्वर की प्रति-मूर्ति है। मानव स्वभाव अनिश्चित होता है। यह नही कहा जा सकता कि किस समय मनुष्य क्या व्यवहार कर बैठेगा। उसकी इस प्रवृत्ति के कारण उसके कार्यो मे आकस्मिकता पाई जाती है। मानव इतिहास में कोई वस्तु अपरिहार्य नही है। न तो प्रगति ही जीवन का नियम है और न पतन ही। भविष्य हमारे सामने है। मनुष्य जाति चाहे तो अपना सर्वनाश कर सकती है, या चाहे तो एक परिवार के रूप मे सगठित हो सकती है। हम अपने भविष्य को गरिमामय भी बना सकते है और शोकपूर्ण भी। यदि हमको विश्व की इच्छा से सहयोग करना है, तो हमे आधुनिक प्रभुसत्तात्मक राष्ट्रो की अहम्मन्यता को त्यागना होगा, समाज को एक गाँव तक ही सीमित मानना छोडना पडेगा और विश्व-समाज के प्रति अपनी निष्ठा प्रगट करनी होगी। कुछ भी हो, ससार मे प्रजाति (racc) तो केवल एक है और वह है—मानवता।

प्रो० तोयन्वी ने इस बात पर बल दिया है कि हमको अपने धर्म को अनन्य नहीं मान लेना चाहिए। ऐसा नही समझना चाहिए की अनूठे, अन्तिम अपूर्व, अनन्य और अतुलनीय सत्य की ठेकेदारी केवल हमारे पास है। यदि हमारा विचार ऐसा रहा तो हम मे अन्य धर्मो और उनके अनुयायियो के प्रति निश्चय ही घृणा उत्पन्न हो सकती है। प्रो० तोयन्वी धर्म के सकुचित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के विरुद्ध अपना मन्तव्य प्रगट करते रहे हैं, वे इस बात पर जोर देते रहे है कि विविध प्रकार की धार्मिक परपराओ का होना इसलिए आवश्यक है क्योकि इससे मनुष्य का सपर्क अतिम आध्यात्मिक वास्तविकता से हो जाता है। उच्च कोटि के धर्म परस्पर प्रतिस्पर्द्धी नही होते, वरन् एक-दूसरे के पूरक होते है। उनमे से प्रत्येक मनुष्य के हृदय को एक उच्चतर ससार मे ले जा सकता है और मानव-प्रकृति को प्रेम का अभ्यास करने तथा घृणा का त्याग करने की ओर उन्मुख कर सकता है।

यह हमारी परपरा है कि हम धर्म को आवश्यक मानते हे, अपना भविष्य निर्माण करने के लिए मानव-आत्मा को स्वतत्रता देने का हम समर्थन करते हैं और हम यह मानते हे कि भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वास भी साथ-साथ रह सकते है। प्रो० तोयन्वी की पुस्तकें इस बात पर बल देती है। आज हम इस विश्वविद्यालय का सदस्य बनने पर उनका हार्दिक स्वागत करते है।

धर्म चाहे जो स्वरूप ग्रहण करे, चाहे जो भाषा वह बोले, चाहे जिन विचारो के प्रति उसकी आस्था हो, परन्तु एक बात वह कहे बिना नही रह सकता और वह है—पीडित मानवता के प्रति हृदय मे करुणा रखने की बात।

ईश्वर को 'वैद्यनाथ' कहा गया है। डॉ० वाइल्डर पेनफील्ड एक ऐसे व्यक्ति के जीवित उदाहरण हैं जिसका जीवन दूसरो की पीडा को कम करने के लिए समर्पित हो चुका है। आप सभी जानते है कि डॉ० पेनफील्ड ने स्नायविक सस्थान के अध्ययन (Neurology) और मस्तिष्क की शल्यक्रिया के सम्बन्ध मे कितना शानदार काम किया हे, यह भी सर्वविदित है कि उन्होने मनुष्य के सुख-साधनो मे कितने प्रकार से वृद्धि करने की

चेष्टा की है और इस सबके लिए उनका कितना सम्मान किया जाता है।

गत पचास वर्षों मे औषधि-विज्ञान और शल्यविज्ञान ने नाटकीय प्रगति की है। इस अवधि मे मनुष्य के जीवन मे बीस वर्षों से अधिक की वृद्धि हो गई है। इस युग मे नयी-नयी औषधियो का आविष्कार हुआ है जिनमे सल्फा-समूह की औषधियो तथा ऐन्टीबायटिक्स का नाम लिया जा सकता है, चिकित्सा की नयी विधियो की खोज हुई, जैसे एक्स-रे, रेडियम और उससे उत्पन्न अन्य विधियाँ। इन्होने रोगो की चिकित्सा मे बडा महत्त्वपूर्ण योग दिया है। भविष्य मे भी बहुत बडे-बडे और दूर तक प्रभाव डालने वाले परिवर्तन होने की आशा की जाती है। उदाहरणत न्यष्टि भौतिकी (Nuclear Physics) के क्षेत्र मे जितनी शीघ्रता से विकास हो रहा है, उससे रोगो के निदान और उनकी चिकित्सा मे बडी महत्वपूर्ण सहायता मिल सकती है। मेरा विचार है कि रोगो पर विजय पाने की दिशा मे हमारा शोध-कार्य सृष्टि के अन्त तक चलता रहेगा। जो चीज पूरी तरह पाई नही जा सकती, उसको पूरी तरह छोडना भी नही चाहिए।

इन सब वर्षो मे औषधि सम्बन्धी ज्ञान और कुशलता मे जो वृद्धि हुई है, हम भारतवासियो ने केवल उसका लाभ ही उठाया है, स्वय उस ज्ञान मे कोई वृद्धि नही की। किन्तु, क्योकि अब उच्चतर शिक्षा और अनुसधान-सम्बन्धी सुविधाओ मे वृद्धि हो रही है, अत मैं आशा करता हू कि हमारे यहा के चिकित्सक औषधि-विज्ञान का प्रसार करना ही नही, उसमें वृद्धि करना भी अपना कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक अध्यापक के दो कार्य होते है—प्रवचन और स्वाध्याय।

अन्य क्षेत्रो की भाति इस क्षेत्र मे भी विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढ रही है, किन्तु विशेषज्ञ को कुशल प्रविधिविज्ञ (टेक्नीशियन) नही बनना चाहिए। डॉक्टर पेनफील्ड की रुचिया विभिन्न है। फुटबाल खेल से लेकर उपन्यास पढने तक उनकी रुचि विस्तृत है। इस कारण से वे न केवल ससार के सबसे बडे मस्तिष्कशल्य चिकित्सक है, वरन् उनका व्यक्तित्व भी कोमल तथा आकर्षक है, इनमे गभीरता है, पर कठोरता नही। यद्यपि इनका जन्म अमेरिका मे हुआ था, तथापि आज उनकी

'महानतम कनाडावासी' कहा जाता है। इन्होने विश्व के विभिन्न भागो के लिए जितनी सेवाए की है और विभिन्न विश्वविद्यालयो तथा विद्वन्मडली से इनको जो सम्मान मिले हैं, उनको देखते हुए इनको ससार का एक महान् नागरिक कहा जा सकता है। ससार के हर भाग से विद्यार्थी और रोगी इनके पास जाते है। आज जब हम अपने देश से रोग, गन्दगी और अन्धविश्वास को झाड-बुहार कर फेकने की चेष्टा कर रहे है तब इनका हमारे यहा पधारना हमारे लिए अत्यन्त लाभकर है। ईश्वर करे, ससार को बहुत वर्षो तक इनके बुद्धि-विवेक की शक्ति का और इनकी प्रतिभा के पथ-प्रदर्शन का लाभ मिलता रहे।

हमारे विश्वविद्यालय के इन नये स्नातको ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जीवन मे साहसिक कार्य किये है। आज उनका स्वागत करते हुए हमे आनन्द हो रहा है।

कुछ भूमिकाएँ

लोकतंत्र और शिक्षा*

नये भारत का जन्म एक ऐसी क्रान्ति से हुआ है जो अनिवार्यत शान्तिमय और अहिंसक थी। भारत ने लोकतत्र स्थापित करने का व्रत ले रखा है। यूरोप मे जो बौद्धिक, राजनीतिक तथा औद्योगिक आन्दोलन समय-समय पर हुए, वे सभी एक ही साथ भारतवर्ष मे उफन रहे हैं। भारत की भावी प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि जितनी प्रगति अन्य राष्ट्रो मे सदियो की अवधि मे हुई, उतनी प्रगति वह अगामी कुछ ही वर्षों मे कर ले। नये समाज की स्वरूप-रचना के लिए शिक्षा एक अत्यन्त आवश्यक साधन है। सरकार तो नये आदर्शो के अनुसार शिक्षा मे नये-नये परिवर्तन कर ही रही है, निजी शिक्षण सस्थाएँ भी उदार, मानवीय और निष्पक्ष भावना से शिक्षा का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा कर रही हे।

कल्याणकारी राज्य मे हमारा उद्देश्य अपने नागरिको को केवल भोजन, वस्त्र तथा आश्रय देना ही नही होना चाहिए, वरन् उनको इस प्रकार शिक्षित करना भी होना चाहिए, जिससे वे विभिन्न प्रजातियो, सम्प्रदायो तथा प्रान्तो के होते हुए भी भाई-भाई की तरह साथ-साथ रह सकें। हमारे यहाँ की विभिन्न सस्थाओ का यह उद्देश्य रहा है कि शिक्षा का उपयोग लोकतत्र के लिए हो, एक ऐसे एकल (unitary) राज्य की स्थापना के लिए हो, जिसमे स्थानीय स्वार्थो और विघटनकारी महत्त्वा-

*श्री जोसलीन हेनेसी द्वारा बिडला-शिक्षा-प्रतिष्ठान की विभिन्न प्रवृत्तियो पर लिखी एक पुस्तक मे भूमिका—३ मार्च, १९५४।

काक्षाओ को गौण स्थान प्राप्त हो।

लोकतत्र का हित और व्यक्ति का हित एक है, दोनो का उद्देश्य एक है। स्वतःस्फूर्त प्रेरणा और प्रयास से युक्त मनुष्य की स्वतत्र चेतना तथा लोकतंत्र मे अविरोध है। जिस व्यक्ति के विचारों और अनुभूतियो पर मेड नही लगा दी गयी हे, उन्हे अवरुद्ध नही कर दिया गया है, उसके पास अपनी आन्तरिक सम्पत्ति होती है, जिस पर उसका, केवल उसका ही अधिकार होता है। अन्तःकरण के इस पवित्र मन्दिर का निर्माण उसने स्वय किया होता है। जब कोई मनुष्य अपने पवित्र अस्तित्व का महत्त्व समझने लगता है, तब उसका मन और उसकी चेतना पवित्र हो जाती है। ऐसे व्यक्ति का हृदय दूसरे व्यक्ति के पवित्र आन्तरिक मन्दिर मे प्रवेश करते हुए काँपने लगता है। असहिष्णुता मूलतः अपवित्रता है। यदि हम अपनी शिक्षा को यह आध्यात्मिक दिशा नही देते, तो यह अपने प्रयोजन मे असफल रहती है।

"साक्षरो विपरीतत्वे राक्षसो भवति ध्रुवम्।"

जो लोग विद्वान् तो है, पर जिनके पास प्रेम नही है, वे वास्तव मे पैशाचिक बन जाते है। ऐसे लोगो मे बौद्धिक उद्दण्डता, आध्यात्मिक मूढ़ता और हार्दिक निष्ठुरता पायी जाती है।

नारी को विकास की पूर्ण स्वतंत्रता हो*

नारी जाति की राजनीतिक मुक्ति इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। आज हम मानने लगे है कि नारियाँ भी मनुष्य है, उनका भी अपना व्यक्तित्व है और वे पुरुषो की केवल उपासग (adjunct) नही है। बौद्धिक जीवन बिताने और अपना आध्यात्मिक विकास करने का उन्हे भी अधिकार है। एक बौद्ध भिक्षुणी पूछती है—"नारी-प्रकृति हमारे मार्ग मे किस प्रकार बाधक हो सकती है?" प्रत्येक स्त्री को आत्मसाक्षात्कार की स्वतत्रता होनी चाहिए।

यद्यपि सभी स्त्रियो को एक ही साँचे मे नही ढाला जा सकता, तथापि स्त्री के लिए सामान्य जीवन तो विवाह और मातृत्व का जीवन ही है। विवाह का उद्देश्य व्यक्तिगत सुखोपभोग नही है, वरन् कर्त्तव्य-पालन मे नर-नारी का सहयोग ही इसका उद्देश्य है। पत्नी सहधर्मचारिणी होती है।

क्योकि पौर्वात्य नारियाँ सामान्यतया अपने अधिकारो की माँग उठाकर हल्ला नही करती, न वे अपनी शेखी बघारती हैं, इसलिए हमको यह तर्क नही करना चाहिए कि वे दासियाँ है। नारी मे उसकी विनम्रता ही सबसे अधिक आकर्षक होती है, लज्जा ही उसका भूषण है।

नारी का नारीत्व उसकी प्रजाति या राष्ट्रीयता से सम्बन्धित नही है। इसका सम्बन्ध तो उसके अन्तरतम स्वभाव से है। मैं आशा करता हू कि हमारी महिलाएँ सार्वजनिक कार्य मे भाग लेते समय अपने उन

*'मञ्जरी' को सन्देश : १० अप्रैल, १९५४।

आवश्यक गुणो को बनाये रखेगी, जिन्होने इस प्रजाति को सभ्य बनने मे योग दिया है।

"प्रत्येक युग मे भारत ने ऐसी लाखो नारियाँ उत्पन्न की हैं जिन्हे कभी प्रसिद्धि नही मिली, किन्तु जिनके नित्य-प्रति के जीवन से समस्त प्रजाति को सभ्य होने की प्रेरणा प्राप्त हुई। उनके हृदय का प्रेम, आत्म-बलिदान के लिए उनका उत्साह, उनकी सहज निष्ठा, कष्ट-सहन की उनकी क्षमता अत्यन्त कठोर परीक्षाओं से गुजर चुकी है। और जब-जब ऐसा हुआ है, उनके साहसिक कृत्यो ने इस प्राचीन प्रजाति के गौरव मे वृद्धि की है।"

—डॉ० राधाकृष्णन्, कलकत्ता सन् १९५२,
'रिलीजन एण्ड सोसाइटी' द्वितीय संस्करण,
पृ० १९७-१९८

"ईशावास्यमिदं सर्वम्"*

निष्ठापूर्ण कार्यों के आधार पर ही मानव-प्रगति का निर्माण हुआ है। जिन निष्ठापूर्ण कार्यों पर हमारी सभ्यता आधारित है, उनका मूल हमे उपनिषदो के सिद्धान्तो मे मिलता है। आज जब हम देश के जीवन मे एक नये युग का श्रीगणेश करने जा रहे है, तब हमे प्रेरणा प्राप्त करने के लिए उपनिषदो के समीप जाना चाहिए। उनमे वे सिद्धान्त निहित हैं जिन्होने हमारे इतिहास को इसके उषःकाल से ही अपने साँचे मे ढाला है। जहाँ कही हम असफल हुए है, वहाँ हमारी असफलता का कारण रहा है उपनिषदो की शिक्षाओ के प्रति हमारी अभक्ति। इसलिए हमारी पीढी के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह उपनिषदो के महत्त्व को हृदयगम करे और हमारी आज की समस्याओ को उनसे क्या सहायता मिल सकती है, इस पर विचार करे।

उपनिषदो का पठन हल्के ढग से नही होना चाहिए। उन पर मनन करना चाहिए। उदाहरण के लिए 'ईशोपनिषद्' का प्रथम श्लोक ही लीजिए—

"ईशावास्यमिद सर्व यत्किञ्चजगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृध कस्यस्विद् धनम्॥"

अर्थात् इस गतिशील जगती मे जो कुछ दिखायी दे रहा है, उस

---

*प्रो० सत्यव्रत द्वारा किये उपनिषदो के हिन्दी अनुवाद के लिए डा० राधाकृष्णन् की भूमिका—२८ अप्रैल, १९५४।

सबमे ईश्वर का आवास है। इसलिए त्याग मे ही आनन्द की उपलब्धि करो, परधन की कामना मत करो।

यह बताता है कि यह ससार घटनाओ की एक शाश्वत शृंखला है, जहाँ पर हर वस्तु दूसरी वस्तु को पीछे छोडकर आगे बढ जाना चाहती है। किन्तु अतिक्रमण की यह क्रिया ही सब कुछ नही है। इसके भीतर परम आत्मा का निवास है, ईश्वर ने सब कुछ को परिव्याप्त कर रखा है। हमे संसार को बाहर से देखकर उसे केवल घटनाओ का अनुक्रम मात्र नही समझ लेना चाहिए, वरन् इसके अन्तस्तल मे हमे महत्त्वपूर्ण ज्वलन्त तीव्रता के दर्शन करने चाहिए जो उस अनुक्रम मे अन्तर्भुक्त रहती है। ससार की प्रत्येक घटना अन्तर्दृष्टि का ही बाह्य रूपान्तर होती है। प्रत्येक वस्तु को त्याग कर हम प्रत्येक वस्तु के स्वामी बन जाते हैं। जब हम यह अनुभव करते है कि समस्त विश्व मे ईश्वर परिव्याप्त है, तब हम विश्व के साथ तन्मय हो जाते है। ट्रैहर्न (Traherne) के शब्दो में —"समुद्र हमारी धमनियो मे प्रवाहित है और नक्षत्र हमारे रत्न हैं।" जब हम सभी वस्तुओ को पवित्र भावना से देखते हैं, तब लोभ और अहंकार के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है ?

भूदान : एक क्रांतिकारी आन्दोलन*

सात वर्ष पहले हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। किसी राष्ट्र के जीवन मे यह अवधि अल्प ही कही जाएगी। किन्तु किसी ऐसी ही अवधि की तुलना मे यह अवधि कम महत्त्वपूर्ण नही है। मनुष्य के जीवन मे प्रथम सात वर्ष उसके चरित्र की रूपरेखा स्पष्ट कर देते है और बहुतांश मे उसके भविष्य को भी। राष्ट्र के लिए भी यही बात सत्य है। कई आलोचको ने सत्ता-हस्तान्तरण के समय यह भविष्यवाणी की थी कि भारत देश-विभाजन के कुपरिणामो से सँभल नही पाएगा, देश विश्रृंखलित हो जाएगा, प्रशासन छिन्न-भिन्न हो जाएगा, कानून का शासन समाप्त हो जाएगा और लोगो का जीवन तथा सपत्ति सुरक्षित नही रह जाएगी। कई लोगो के हृदय भय से आतंकित थे और बहुत-से लोगो को आशा थी कि भारत की बधिया अचानक बैठ जाएगी। किन्तु, इन मित्रो और शत्रुओ को परिणामो से निराशा हुई है। हमारा देश आज भी सगठित है। छिन्न-भिन्न होने के स्थान पर यह ऐक्यबद्ध ही हुआ है। देश का कोई ऐसा भाग नही, जहाँ सरकार के आदेश मान्य नही होते। प्रशासन आज भी पूर्ववत् व्यवस्थित है। कोई भी विदेशी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक नि शक यात्रा कर सकता है और उसके जीवन तथा सपत्ति को कोई क्षति नही पहुँच सकती। अन्तरराष्ट्रीय मामलो मे

*श्री सुरेश रामभाई द्वारा विनोबा भावे के भूदान-आन्दोलन पर लिखी पुस्तक की भूमिका लेखक डॉ० राधाकृष्णन्—सन् १९५५।

भी हमारी नीति को भले ही लोग सामान्यतः न स्वीकार करते हो, परन्तु उसको वहुतो का सम्मान अवश्य प्राप्त है। हमने सत्यनिष्ठा और विचार-स्वातन्त्र्य के लिए प्रतिष्ठा अर्जित की है। आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो मे हमारी उपलब्धियाँ यद्यपि आश्चर्यजनक नही है, तथापि वे उपेक्षणीय भी नही है।

हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए इतना लम्बा सघर्ष इसलिए नही किया और न राजनीतिक स्वतन्त्रता इसलिए प्राप्त की कि हम पुराने ढर्रे पर ही चीजो को चलाते रहे। |हमारा लक्ष्य यथाशीघ्र सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति करना है। हम एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हे जो जाति और वर्ग के भेद भाव से, हर प्रकार के शोषण से, सामाजिक, आर्थिक प्रजातीय और धार्मिक शोपण से मुक्त हो। हमको स्वीकार करना चाहिए कि हमारा समाज अब भी गभीर आर्थिक अन्यायो से, सामाजिक दमन से, जातीय पूर्वाग्रहो से, साम्प्रदायिक ईर्ष्याओ से, प्रान्तीय शत्रुताओ से तथा भापायी विद्वेपो से पीडित हो रहा है। ये हमारी योग्यता, हमारे साहस, हमारे विवेक को चुनौती दे रहे है। यदि हमे एक सभ्य समाज के रूप मे जीवित रहना हे, तो हमे इन बुराइयो से छुटकारा पाना चाहिए, किन्तु इसके लिए भी हमे सभ्य उपायो का ही अवलम्वन करना चाहिए।

समाजो की प्रगति मे तीन अवस्थाएँ आती है पहली अवस्था वह होनी है जव समाज मे जगल का कानून (जिसकी लाठी उसकी भैस) प्रचलित होता है, स्वार्थपरता और हिंसा का वोलवाला रहता है; दूसरी अवस्था वह होती है जब कानून का शासन स्थापित हो जाता है, न्यायालयो मे निष्पक्ष न्याय मिलने लगता हे, पुलिस और वदीगृहो की व्यवस्था रहती है, तीसरी अवस्था वह होती है जब अहिंसा और निस्स्वार्थता का प्रसार होता है, कानून और प्रेम एक हो जाते है। जगल का शासन, कानून का शासन और प्रेम का शासन—ये समाज की प्रगति की तीन अवस्थाएँ है। इनमे से अतिम—प्रेम का शासन—सभ्य मानवता का लक्ष्य होता है। यदि समाज मे ऐसे नर-नारियो की संख्या बढ जाय, जिन्होने स्वार्थमय महत्वाकाक्षाओ का परित्याग कर दिया हो, जिन्होने

व्यक्तिगत हितो को छोड दिया हो, जो प्रतिदिन इसलिए बलिदान होते हो, ताकि अन्य मानव शान्ति और सुख से रह सके, तो यह लक्ष्य हमारे निकटतर आ सकता है। अच्छे मनुष्यो की तपस्या के बल पर ही यह ससार टिका है—'सन्तो भूमि तपसा धारयन्ति।' आचार्य विनोवा भावे मे हमे एक ऐसे ही तपस्वी के दर्शन होते है जो हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन मे प्रेम का शासन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

क्योकि हम सभी लोगो को पैगम्बर या महात्मा नही बना सकते, इसीलिए हमको सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन करने के लिए कानून पर निर्भर रहना पडता है। आज समाज मे परिवर्तन की आवश्यकता अत्यधिक बढ गयी है, अत इस प्रसग मे भूदान-आन्दोलन का भारी महत्व हो जाता है। यह उन परपराओ का पालन करने को कहता है जो भारतीय जीवन-पद्धति मे निहित हैं। यह सामाजिक व्यवस्था को एक विस्तृत परिवार के रूप मे देखता है। यह बात हमारी धार्मिक नैसर्गिक प्रवृत्ति को भली लगती है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता केवल उन्ही को प्राप्त हो सकती है जो भौतिक सम्पदाओ मे लिप्त न हो। आचार्य विनोवा भावे ने यह जो अन्दोलन छेडा है, वह क्रान्तिकारी है। समाज के प्रत्येक स्तर से उनकी अपील का जो स्वागत हुआ है, उससे पता लगता है कि हमारे देश की नैतिक सचिति अभी विशाल है। यह आन्दोलन निष्ठा-कर्म पर आधारित है। भले ही यह स्वयमेव भू-क्रान्ति न कर पावे, किन्तु यह विचारो की हवा पैदा करके ऐसी भूमिका प्रस्तुत कर रहा है जिसमे भूमि-सुधार के साहसपूर्ण उपाय कार्यान्वित किये जा सकते है।

भारतीय दर्शन

हमारे दर्शन का लगभग तीन हजार वर्ष तक का इतिहास मिलता है। जिन तात्त्विक सिद्धान्तो ने इस देश को कई शताब्दियो तक प्रभावित रखा, उनका समावेश इस दर्शन मे है। उन सिद्धान्तो मे से एक प्रमुख सिद्धान्त यह है कि मानव जीवन की सफलता इस बात मे है कि उसके स्वभाव के विभिन्न पक्षो, शरीर, मन तथा आत्मा का सुसम्बद्ध विकास हो। केवल शारीरिक उन्नति अथवा बौद्धिक तत्परता ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य के प्रयासो का लक्ष्य आत्मिक साक्षात्कार होना चाहिए। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए कोई एक निर्धारित मार्ग नही है। यही कारण है कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास के आरम्भ से ही भिन्न-भिन्न धर्म शान्ति-पूर्वक इस देश मे रहते आये हैं। भारतीय जनता ने आर्यो, द्रविडो, हिन्दुओ बौद्धो, यहूदियो, ईसाइयो, पारसियो और मुसलमानो का स्वागत मुक्त हृदय से किया। इन धर्मावलम्बियो को अपनी विचार और अन्वान-पद्धति का विकास अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार करने की पूर्ण सुविधा दी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आज हम अपनी वही 'जीओ और जीने दो' की नीति का अनुगमन कर रहे हैं।

सब धर्मों का मेल ही हितकर

आदिकाल से लेकर भारतीय सस्कृति अपने इस वर्तमान स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त हुई है और इसमे उसकी जो मूलभूत विशेषताए प्रकट हुई है, उनका उल्लेख डॉ० एस० आबिद हुसेन ने अपनी इस पुस्तक* मे किया है। उन्होने योग्यता, सूझ और उद्देश्यपूर्वक इस विषय का निरूपण किया है। उनका मत है कि भारतीयो का जीवन के प्रति एक सामान्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण रहा है जिसके निर्माण मे विभिन्न प्रजातियो और धर्मो ने योग दिया है। वे लिखते है—"भारतीय सस्कृति के कई हजार वर्षो के इतिहास से यह प्रकट है कि भारत के अनन्त प्रकार के जीवन मे एकता का जो सूक्ष्म, किन्तु सबल सूत्र दिखायी देता है, वह सत्तारूढ दलो के द्वारा बलप्रयोग करके या दबाव डालकर नही गूँथा गया था, वरन् उसको गूँथा था ऋषियो की दूरदर्शिता ने, सन्तो की जागरूकता ने, दार्शनिको के अनुमानो ने और कवियो तथा कलाकारो की कल्पना ने। और इन्ही भावनो का उपयोग करके आज भी राष्ट्रीय एकता को अधिक विस्तृत, अधिक शक्तिशाली और अधिक स्थाई बनाया जा सकता है।"

यह कुछ विचित्र-सा लग सकता है कि जब हमारी सस्कृति की जड आध्यात्मिक आदर्शो मे गडी है, तब हमारी सरकार धर्मनिरपेक्ष है। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता या नास्तिकता, या यहा तक कि भौतिक

*"इडियन नेशनहुड एण्ड नेशनल कल्चर," लेखक डॉ० एस० आबिद हुसेन। भूमिका लेखक-डॉ० राधाकृष्णन् २० अप्रैल, १९५५।

सुखो पर बल देना भी नही है। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य यह है कि हम आध्यात्मिक आदर्शों की व्यापकता पर बल देते है और यह कहते हैं कि उसको विभिन्न मार्गों से चलकर पाया जा सकता है।

धर्म ऐसा अनुभव है जो मनुष्य मे परिवर्तन ला देता है। यह ईश्वर से सम्बन्धित कोई सिद्धान्त नही है। यह आध्यात्मिक चेतना है। विश्वास और आचरण, सस्कार और समारोह, मतवाद और उनके अधिकारी व्याख्याता—ये सब आत्म-शोध की कला और दैवी शक्ति से सपर्क के सम्मुख घटिया चीजे हैं, बल्कि उनके अधीनस्त हैं। जब व्यक्ति समस्त बाह्य क्रियाकलापो से अपनी आत्मा को हटा लेता है, अपने को भीतर की ओर केन्द्रित करता है और एकाग्रचित्त होकर प्रयत्न करता है, तब उसको एक पवित्र, विचित्र, अद्भुत अनुभूति होती है, जो भीतर प्रखर होकर उस पर अपना अधिकार जमा लेती है, उसके अस्तित्व के साथ एकाकार हो जाती है। जो लोग विज्ञानवादी और बुद्धिवादी हैं, उन्हे भी आध्यात्मिक अनुभवो की तथ्यता को स्वीकार करना होगा, क्योकि यह तथ्य प्राथमिक और धनात्मक (positive) है। हम अध्यात्म विद्याओ को भले न स्वीकार करे, किन्तु हम तथ्यो को कैसे अस्वीकार कर सकते है? जीवन की जो अग्नि हमारे सामने जल रही है, वह इन तथ्यो को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देती है। यह बात और है कि अलाव के चारो ओर बैठकर हुक्का गुडगुडाने वाले लोगो की फूहड कपोलकल्पना का भले ही तिरस्कार कर दिया जाए। जब कि सिद्धि (realization) एक तथ्य है, तब यथार्थ का सिद्धान्त अध्याहरण (inference) है। यथार्थ से सपर्क औरउन के विषय मे सम्मति—ये दोनो बाते अलग-अलग है, ईश्वरत्व का रहस्य एक चीज है और ईश्वर मे विश्वास करना दूसरी चीज। किसी राज्य के धर्मनिरपेक्ष होने का यही अर्थ है, यद्यपि लोग सामान्यतया इस अर्थ को समझते नहीं।

यह दृष्टिकोण भारतीय परपरा के अनुकूल है। ऋगवेद का ऋषि इसका समर्थन करता है कि यथार्थ या सत्य एक है, जब कि विद्वान् लोग उसका नाना प्रकार से वर्णन करते है। अशोक अपने द्वादश शिलालेख में घोषणा करता है—"जब कोई व्यक्ति अपने धर्म का आदर करता है और दूसरे व्यक्ति के धर्म तथा उसकी आराधना-पद्धति का तिरस्कार करता है,

अपनी आराधना-पद्धति से उसे घटिया बताता है, तथा अपने धर्म को सब धर्मो से बढ-चढकर मानता है, तब वह व्यक्ति निश्चय ही अपने धर्म को क्षति पहुचाता है। वास्तव मे सब धर्मो का मेल ही हितकर है।"—'समवाय एव साधु।' शताब्दियो बाद अकबर ने फिर इस बात का समर्थन इन शब्दो मे किया—"विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय ईश्वर के द्वारा हमको सौपे हुए दैवी कोषागार है। इस नाते हमको सब धर्मो से प्यार करना चाहिए। हमे यह दृढ आस्था रखनी चाहिए कि सभी धर्मो को ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त है। वह शाश्वत राजा है जो बिना भेद-भाव के सभी धर्मो पर अपने अनुग्रह की वर्षा करता है।" यही सिद्धान्त हमारे सविधान मे सम्मिलित किया गया है। हमारा सविधान लोगो को तब तक अपने धार्मिक विश्वासो तथा सस्कारो का प्रचार और पालन करने की पूरी स्वतत्रता देता है जब तक वे हमारी नैतिक भावना के विरुद्ध नही जाते। हम जानते है कि एक सामान्य धरातल है जिस पर विभिन्न धार्मिक परपराए स्थित है। इस समान्य धरातल पर हम सबका अधिकार है, क्योकि वह शाश्वत शक्ति से प्रसूत है। ऐतिहासिक अध्ययनो से और धर्मो की तुलना से जो मूलभूत विचार हमारे सम्मुख आये है, उन्ही पर भविष्य की आशा टिकी है। इन विचारो से धार्मिक एकता मे विश्वास जमता है और दूसरे धर्मो को समझने की सहानुभूति उत्पन्न होती है। यह हमे समझाते है कि हम ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही इस या उस धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष के सदस्य हो, परन्तु हम सभी ईश्वर के अदृश्य मन्दिर के पुजारी है।

हिन्दू धर्म*

हिन्दू-धर्मावलम्बी मनुष्य धर्म का उद्देश्य व्यक्तित्व की सुसम्बद्धता मानता है। इस प्रकार का व्यक्तित्व व्यक्ति को अपने स्वभाव, अपने साथियो और परमात्मा के साथ समझौता करना सिखाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई निश्चित उपाय नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोनुकूल उपाय अपना सकता है। हिन्दू धर्म के वातावरण मे तो निम्न-कोटि के साधन भी सुसस्कृत बन जाते है। मध्यकाल के एक भारतीय रहस्यवादी ने लिखा था—"विभिन्न दीपको मे अलग-अलग प्रकार के तेल हो सकते है, उनकी वर्त्तिका भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है, किन्तु जब वे जलते हैं, तो उनमे एक जैसी ही शिखा और ज्योति निकलती है।"

जिन लोगो का शक्ति-स्रोत उनकी आत्मा होती है, वे समस्त मानव जाति के लिए कष्ट-सहन करते है। उनके सामने जाति, वर्ग, मतवाद या सम्प्रदाय के विभेद कोई महत्व नही रखते। धर्म के सत्य तो शाश्वत होते है, परन्तु सामाजिक स्वरूप और सस्थाएँ अस्थायी होती है। प्रत्येक पीढी को उनकी जाँच करके देख लेना चाहिए कि वे जीवन के स्थायी आदर्शों को व्यवहृत करने की क्षमता रखती है या नहीं। हमारी कुछ सस्थाएँ तो बहुत पुरानी पड गयी है, उनको पूरी तरह समाप्त करने की

*प्रो० टी० एम० पी० महादेवन् द्वारा हिन्दू धर्म पर लिखी पुस्तक की भूमिका १४ दिसम्बर, १९५५।

नही, तो कम से कम, उनका सुधार करने की तो आवश्यकता है ही। अतीत मे, धार्मिक भावावेश के कारण कुछ भद्दे रिवाज पड़ गये थे। धर्मान्धता ने पशुओ की बलि, अश्लील सस्कारो और जातिगत दमनकारी नियमो को प्रेरणा दी एव उनका समर्थन किया। हमारे धर्मशास्त्र जन्म या जाति के आधार पर भेदभाव रखने का समर्थन नही करते, वे गुण और कर्म पर बल देते है। निम्नलिखित श्लोक पर ध्यान दीजिए—

"नर्तको गर्भसम्भूतो वशिष्ठोनाम महाऋषि ।
तपसा ब्राह्मणो जात, तस्मात् जातिर्नकारणम् ॥
चण्डालो गर्भसम्भूत शक्तिर्नाम महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात, तस्मात् जातिर्नकारणम् ॥
श्वपाको गर्भसम्भूत परशरो महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात, तस्मात् जातिर्नकारणम् ॥
मत्स्यगन्ध्यास्तु तनयो विद्वान् व्यासो महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात, तस्मात् जातिर्नकारणम् ॥"

तिरुक्कुरल कहते है—"सभी व्यक्ति जन्म से बराबर है। उनमे केवल व्यवसायो के कारण अन्तर आता है।" (१९७२)

हम आज ऐसे युग मे रह रहे है जब धर्म पर से लोगो के विश्वास की जड हिल गयी है, धार्मिक मतो की सत्यता और उपयोगिता पर सन्देह किया जाता है और परपराएँ बिखरती जा रही है। हिन्दू धर्म यथार्थ या सत्य के अनुभव पर बल देता है और प्रेम का सन्देश देता है, इसलिए आधुनिक लोगो को वह अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

बौद्ध धर्म*

सन् १९३८ मे चीन-जापान-युद्ध के समय, गान्धी जी ने एक जापानी राजनीतिज्ञ से कहा था कि हमे बुद्ध के सन्देश को पुन सीखना चाहिए और ससार मे उसको फैलाना चाहिए। उनके शब्द थे—"आजकल सर्वत्र इसके विरुद्ध कार्य हो रहे है।·· मेरे पास आपको देने के लिए केवल एक सन्देश है आपको अपनी प्राचीन वपौती के प्रति सच्चा रहना चाहिए। यह सन्देश २५०० वर्ष पुराना है, परन्तु अभी तक इसका सच्चे अर्थ मे पालन नही हुआ है।" इस वर्ष जब हम बुद्ध के परिनिर्वाण की २५००वी वर्षी मना रहे है, तब बुद्ध की कहानी का सरल, रोचक लेखा प्रस्तुत करना उचित ही है। उससे हमे पता चलेगा कि उनके जीवन और कार्य के रूप मे मानवीय विचारणा तथा अनुभूति किस ऊंचाई तक पहुँच चुकी थी।

भारतीय दृष्टि मे धर्म, चाहे वह हिन्दू धर्म हो या जैन या बौद्ध, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा व्यक्ति को जीवन के उच्चतर स्तर तक उठाने का प्रयास है। डॉ० गागुली ने जिन्होंने अपने जीवन के अतिम वर्षों को धार्मिक जीवन की समस्याओ के अध्ययन-मनन मे व्यतीत किया, यह समझाने का प्रयत्न किया है कि बुद्ध मनुष्यो मे मनुष्य थे, वे एक ऐसे मानवतावादी थे जो इस शाश्वत समस्या मे रुचि

* "बुद्ध और उनका सन्देश" (अंग्रेजी). संपादक: डॉ० एन० गागुली की भूमिका। लेखक—डॉ० राधाकृष्णन्।

रखते थे कि मनुष्य मृत्यु के बन्धनो से अपने को कैसे मुक्त कर सकता है। हम काल-चक्र मे फँस गये है, क्योकि हमको जो होना चाहिए था, वह हम अभी तक नही हो पाये है। यदि हम काल-चक्र से अपने को छुडाना चाहते है तो हमे आत्म-सयम का अभ्यास करना चाहिए। उपवास और प्रार्थना के द्वारा, मौन और पवित्रता के द्वारा, हम स्वभाव की स्वैच्छिकता से अपने को विलग कर लेते है। हम अपने बन्धन तोडकर नियमित जीवन बिताते है। बन्धन-विमुक्त होने का अर्थ है स्वतत्रता का आस्वादन। यह, जो वस्तु हमारी नही है, उसको अपने से दूर रखना है। यह इस बात को जान लेना है कि कोई वस्तु है जो 'अजात' है, 'अभूत' है, 'अकत' (अकृत) है, 'असन्खत' (असयत) है, 'अमत' (अमृत) है, जो गतिशील (flux) या विकासशील (becoming) का उल्टा है।

"परिवर्तन औ' ह्रास देखता मै अपने चहुँ ओर।
तू ही है, प्रभु! एक, नही जिसमे परिवर्तन-कोर॥"*

बुद्ध स्वयं को 'ब्रह्मभूत', अर्थात् जो ब्रह्म हो गया हो, कहते है। जब हम इस प्रज्ञा मे अवस्थित होते है, तब घमण्ड, घृणा और पाखण्ड हमसे दूर हो जाते है। हम असहिष्णु के साथ सहिष्णु हो जाते है, उग्र के साथ शान्त हो जाते हैं, रागी व्यक्तियो के बीच रहकर भी विरागी बन जाते है।

धर्म और उत्सव, सस्कार और शास्त्रोक्त विधियाँ—सब हमको हमारे भीतर छिपी दैवी शक्ति को खोजने मे सहायता देने के लिए है। वे तो साधन-मात्र है, साध्य तो है आध्यात्मिक जीवन। अत उनके विषय मे आपस मे झगडना निरर्थक है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति वह है जो दूसरो के मत के साथ अपनी पटरी बैठा सकता है, वह विभिन्न धर्मो द्वारा घोषित अतिम सत्यो की सर्वव्यापकता को समझता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए भी दूसरे धर्मो मे जो कुछ मूल्यवान् है, उसे आत्मसात् करके अपनी उन्नति कर सकता है। दूसरो के

---

*"Change and decay in all around I see O Thou who changest not"

धर्म की मूल्यवान् बातो को वह तब तक अपनाना नही छोड़े जब तक वे बातें उसके अपने धर्म के साथ आध्यात्मिक रूप से अनमेल न हो। आध्यात्मिक उन्नति का यही नियम है।

बुद्ध हमसे कहते है कि धार्मिक विषयो मे हमे अभिमान नही करना चाहिए और दूसरो से अपने को श्रेष्ठ या ऊंचा नही समझना चाहिए। 'अन-अहकार' व्यक्तियो तथा राष्ट्रो दोनो के लिए आवश्यक है। आज के हमारे युग मे सभी व्यक्ति अपने कार्य की सत्यता और औचित्य सिद्ध करने पर तुले है, इसमे धर्म-युद्ध का सा जोश वे दिखाते है, परन्तु उनमे विनम्रता का अभाव है। हमको समस्त ससार को अपना ही समझना सीखना चाहिए। कोई व्यक्ति हमारा अपरिचित नही है, कोई मानव प्राणी हमारा शत्रु नही है। "आपस मे किसी को धोखा मत दो। किसी को भी, कही भी, घृणा न करो। क्रोध मे आकर अपने शरीर, शब्दो या विचारो से किसी को पीडा मत पहुंचाओ। जैसे माता अपने इकलौते पुत्र की रक्षा अपना प्राण देकर भी करती है, वैसे ही अपना असीम स्नेह तुम समस्त प्राणियो को दो। अपने ऊपर, अपने नीचे, अपने चारो ओर तथा समस्त ससार मे तुम अपने असीम स्नेह का विस्तार करो, तुम्हारे मन मे किसी को चोट पहुँचाने की इच्छा न हो, किसी के प्रति शत्रु-भावना न हो।"—सुत्त निपात

बौद्ध धर्म के दशशील

सिद्धो और पैगम्बरो के उपदेशो को संसार की मान्यताएँ अपने अनुकूल तोड-मरोड लेती है और पुरोहितो द्वारा उनकी मनमानी व्याख्या की जाती है। यदि हम निश्चय करना चाहते है कि महान् धर्मो के सस्थापको ने क्या शिक्षा दी थी, तो हमे मूल-स्रोत तक पहुचना चाहिए।

बौद्ध धर्म के सभी स्वरूप बुद्ध के जीवन और उपदेशो मे सम्बन्धित है। ज्ञान या बोध प्राप्त करने के पहले तक बुद्ध ने जो तपस्याएँ की थी, हीनयान या पालि या दक्षिणी स्कूल उनसे प्रभावित है, ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् पैंतालीस वर्षो तक बुद्ध ने जो सेवा और करुणामय जीवन बिताया महायान या सस्कृत या उत्तरी स्कूल उसको अपना अधिकृत स्रोत समझता है।

संसार की अपूर्णता और दुःख का भान होने पर ही धार्मिक खोज प्रारम्भ होती है। जिन प्रश्नो ने टॉलसटॉय को उनके ५०वे वर्ष मे परेशान किया था, वे सभी विचारवान् व्यक्तियो को विचलित करते है। 'जीवन क्या है? मुझे क्यो जीना चाहिए? मैं क्यो कुछ करू? क्या जीवन मे कोई ऐसा सार-तत्त्व है जो अपरिहार्य मृत्यु पर विजय पा सके?' निजिन्स्की (Nijinzky) ने इस सारी समस्या पर विचार किया था और

भारत सरकार ने बुद्ध की २५००वीं महापरिनिर्वाण वर्षी के अवसर पर बौद्ध धर्म के कुछ पालि और संस्कृत ग्रथो को हिन्दी मे प्रकाशित किया था, उनकी यह भूमिका डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखी थी।

उसने अपनी डायरी मे लिखा था—"मेरी पत्नी और समस्त मानव जाति का संपूर्ण जीवन मृत्यु है।" धर्म के सामने भी यही समस्या है।

बुद्ध ने दुःख का कारण स्वार्थमय इच्छा को बताया है। एक ओर तो जीवित प्राणी की अनिवार्य प्रेरणा अपने को विश्व के केन्द्र मे स्थापित करने की चेष्टा करती है और दूसरी ओर, वह शेष सृष्टि के अधीन रहती है। इस प्रकार जो तनाव पैदा होता है, वही मनुष्य के दुःख का कारण बनता है। लालसा तो उसे कहते है जो व्यक्ति को रचनात्मक प्रक्रिया मे बाँध दे। स्वार्थवृत्ति रखनेवाला व्यक्ति विश्व का दास बन जाता है। यदि हम केवल 'तृष्णा' या 'तण्हा' से छुटकारा पा जाएं, तो हम दुःख पर विजय पा सकते हैं। आत्म-प्रवचना के विविध उपायो द्वारा दुःख से छूटने का उपक्रम दुःख को मिटाता नही, वरन् भिन्न प्रकार से वह मनुष्य को दुःखी बनाता है।

बुद्ध ने नैतिकता या अष्टांग मार्ग निर्धारित किया है जिससे स्वार्थ-वृत्ति के शासन मे और दुःख पर विजय प्राप्त करने मे सहायता मिलती है। जब उपनिषद् यह कहते है कि 'तत् त्वमसि'—'वह तुम हो'—तब वह किसी तथ्य का निरूपण-मात्र नही करते। यह तो क्रियाशील होने के लिए एक आह्वान है। अपने को वही बनाओ जो तुम जानते हो कि तुम बन सकते हो। जहाँ हिन्दू मन व्यक्ति मे एक ऐसे स्थायी तत्व के होने का विश्वास करता है, जिस पर परिवर्तन का कोई प्रभाव नही पड़ता वहा बौद्ध व्यक्ति आत्मा (self) के गत्यात्मक (dynamic) स्वभाव में विश्वास करता है। जो चेतना स्वय अपरिवर्तनशील है वह दूसरो मे परिवर्तन ले आवे, यह सम्भव नही है। हममे विकास की जो सम्भावनाएँ निहित हैं, उनको हम अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, बुद्धि का प्रयोग करके नही। धर्म कोई मतवाद (creed) नहीं है, वरन् वह एक प्राणवन्त प्रक्रिया है। जब हम स्वयं अपने अपमान के रचयिता है, तब ईश्वर या प्रारब्ध को कोसने मे क्या लाभ? यदि कुछ लोग ही अपमान के भागी बनते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि वे कुछ लोग ही उसके भागीदार बनना चाहते थे। बुद्ध ने मानव की रचनात्मक स्वतन्त्रता पर पर बल दिया था। बुद्ध ने अलौकिक शक्ति पर निर्भर रहने की प्रोत्सा-

हित नही किया। वह किसी ऐसी शक्ति की कल्पना नही कर सकते थे जो सृष्टि-रचना मे तो समर्थ हो, पर इस कार्य को करने मे उसका प्रकट प्रयोजन यह हो कि सृष्टि के सभी प्राणी उसकी प्रशसा करें। बौद्ध धर्म मे नवदीक्षित व्यक्ति जिन दस 'वेरमणी' या निषेधो या निग्रहो की चर्चा करते है, जिन्हे 'दशशील' या 'दशशिक्षापद' भी कहते है, उनको इन शब्दो मे प्रस्तुत किया जा रहा है—"मै (१) अपने जीवन का नाश करने से, (२) अदत्त को प्राप्त करने से, (३) अपवित्र जीवन बिताने से, (४) असत्य-भाषण से (५) मादक द्रव्यो का सेवन करने से, (६) समय-असमय भोजन करने से, (७) सगीत और नृत्य तथा अन्य खेल-तमाशे देखने से, (८) पुष्पहार, इत्र, तेल-फुलेल लगाने से, (९) ऊची कुर्सियो या आसनो पर बैठने से और (१०) सोने-चादी के उपहार प्राप्त करने से अपने को विरत रखने का व्रत लेता हूं।" इनमे से प्रथम पाँच बौद्ध धर्म के 'पचशील' कहलाते है।

पाणातियता वेरमणी सिक्खापद समादियामि।
अदिन्नादान वेरमणी सिक्खापद समादियामि॥
कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापद समादियामि।
मुसावादा वेरमणी सिक्खापद समादियामि॥
सुरा – मेरयमज्जा – पमादट्ठाना वेरमणी
सिक्खापद समादियामि॥

ससार मे जो सघर्ष दिखाई दे रहे है, वे मानव-आत्मा के सघर्षों के ही विस्तार है। यदि लोग अपनी अन्तरात्मा मे शान्ति अनुभव करते होते, तो राष्ट्रो के बाह्य सघर्षों को भी अपरिहार्यत रोका जा सकता था। बुद्ध के पंचशीलो का अभ्यास करके हम अपने मे धैर्य, साहस, प्रेम और निस्स्वार्थता आदि गुणो का विकास कर सकेगे। बुद्ध हमे बताते है कि चिंता और हिंसा के युग मे भी आन्तरिक समरसता (harmony) प्राप्त की जा सकती है और उसकी रक्षा हो सकती है। बाह्य परिस्थितियो की अनुकूलता या प्रतिकूलता का इस पर कोई प्रभाव नही पडता।

"निर्वाण परमं सुखम्।" निर्वाण मे उच्चतम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। यह परिशून्यन (annihilation) की निषेधात्मक दशा नही

है, वरन् आनन्द की विधेयात्मक दशा है। चेतना का विकास दुख से आनन्द की दशा की ओर होता है। बुद्ध यह नही कहते कि मनुष्य प्रकृति के अशान्त तल पर मात्र एक बुद्‌बुद् है और विलयन के अतिरिक्त उसके प्रारब्ध मे कुछ नही है। हिन्दू धर्म की मान्यता है कि मनुष्य, ब्रह्म से जो समस्त जीवन का स्रोत है, एकात्मता अनुभव कर सकता है। बौद्ध धर्म कहता है कि मनुष्य एक ऐसे रूपान्तरित ससार मे रह सकता है जिसमे 'संसार' और 'निर्वाण' एक हो जाते है। 'महासुच्चक सुत्त' मे बुद्ध द्वारा अपनी जिज्ञासा के लक्ष्य तक पहुचने की परम सफलता का वर्णन उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार अकित है—

"जब यह ज्ञान, यह अन्तर्दृष्टि मुझ मे आविर्भूत हुई तब मेरा हृदय वासनाओं व मादकता से मुक्त हो गया, भवनीयताओ (becomings) की मादकता से मुक्त हो गया, अज्ञानता की मादकता से मुक्त हो गया। इस प्रकार से मुक्त हुआ मै उस मोक्ष के प्रति निश्चित हो गया और मुझे ज्ञात हुआ "पुनर्जन्म का अन्त हो गया है। उच्चतर जीवन परिपूर्ण हो चुका है। जो कुछ करना था, वह किया जा चुका है। इस वर्तमान जीवन के पश्चात् यह या वह कोई अन्य जीवन नही है। यह अतिम अन्तर्दृष्टि मुझे रात्रि के अतिम प्रहर के जागरण मे प्राप्त हुई। अज्ञानता की पराजय हुई, अन्तर्दृष्टि जगी, अन्धकार का विनाश हुआ, प्रकाश आया और यह हुआ इसलिए, क्योकि मे सतत प्रयत्नशील रहा, तत्पर रहा और अपने ऊपर मैंने नियत्रण रखने की चेष्टा की। इस प्रकार छ लम्बे वर्षो के द्वन्द्व का अन्त हुआ।"

बुद्ध को वैद्य कहा जाता है। जिस तरह कोई वैद्य किसी रोगी को स्वस्थ बनाता है, उसी तरह बुद्ध हमे हमारी सामान्य स्थिति मे पहुचाने की चेष्टा करते है। यदि हमारे नेता सामान्य (normal) बन जायें, तो हम इस वर्तमान सामाजिक व्यवस्था, जिसमे विभेद, असत्य और हिंसा का बोलबाला है, के स्थान पर एक नवीन समाज-व्यवस्था स्थापित कर सकते हैं जिसमे मानवता, सत्य और बन्धुत्व का राज्य होगा।

• • •

हमारा उपन्यास साहित्य

गहराईयां	श्रीराम शर्मा राम	८.००
मा भारती	एस. डी. भारती	१०.००
सिन्दूर दान	त्रिभुवनपति सिंह	७.००
सपनो की राख	नरेन्द्र शर्मा	७.५०
और उसके बाद	दत्त भारती	५.००
शराबी का दिल	रमेश भारती	५.००
घूंघट और घुघरु	यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र	५.००
पार्लियामेंट स्ट्रीट	निमाई भट्टाचार्य	५.००
भूला भटका	साधना प्रतापी	४.५०
इन्तजार	नरेन्द्र शर्मा	५ ००
खूनी फिल्म	जेम्स वाड	४.५०
कमला	शरत्	५.५०
डा० जिवागो	बोरिस	५.५०
लाल साहब	शुकदेव सिंह सौरभ	५.५०
वसन्त	"	६.००
स्वर्ग की झाकी	"	६.५०
कसौटी के पत्थर	अभयकुमार यौधेय	४.५०
तट के पछी	श्रीराम शर्मा 'राम'	५.००
आंधी का उतार	"	५.५०
धूप और बादल	"	४.५०
जहांगीर	"	४ ५०
छोटे साहब	भगवती प्रसाद बाजपेयी	७ ५०

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-७